भावना और समीक्षा

(आलोचनात्मक निबन्ध)

लेखक
डॉ० ओम्प्रकाश,
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग,
हंसराज कालेज, दिल्ली।

प्रकाशक
भारत प्रकाशन मन्दिर,
सुभाष रोड, अलीगढ़।

प्रकाशक
भारत प्रकाशन मन्दिर,
सुभाष रोड, अलीगढ़।

८

मूल्य चार रुपये

मुद्रक
पद्री प्रसाद शर्मा,
आदर्श प्रेस, अलीगढ़।

प्राक्कथन

प्रस्तुतसंग्रह हिन्दी के उदीयमान लेखक डाक्टर ओमप्रकाश का यह स्तुत्य प्रयास है। इसमें २१ निबन्धों का संकलन है जो कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट कहे जा सकते हैं। निबन्ध विवेचनात्मक हैं और एक नवीन मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। यों तो हिन्दी-साहित्य के सभी कालों का इनमें कुछ न कुछ प्रतिनिधित्व हो गया है फिर भी मध्यकालीन-संस्कृति और साहित्य का इसमें प्राधान्य है। लेखक की कुछ मान्यताएँ क्रान्तिकारिणी हैं जिनसे विद्वानों को विरोध हो सकता है, परन्तु उनकी मौलिकता को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। भावात्मक निबन्धों में लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट है। इस प्रकार के निबन्धों में भावों का तथ्यों से संघर्ष सा प्रतीत होता है और लेखक की शैली समास-प्रधान हो गई है। निबन्धों में लेखक का दृष्टि-कोण साहित्यिक की अपेक्षा ऐतिहासिक अधिक रहा है और सामान्य-प्रवृत्ति अपनी मान्यताओं का सम्बन्ध भक्तिकालीन-साहित्य से जोड़ने की ओर रही है। भक्तिकाल से सम्बन्ध रखने वाले निबन्ध प्रायः भावात्मक हैं और लेखक ने विद्यापति, कबीर, जायसी, सूर और तुलसी के व्यक्तित्व में प्रवेश करने का सुन्दर प्रयास किया है। रीतिकाल से सम्बद्ध निबन्धों में केवल शास्त्रीय पक्ष पर विचार किया गया है, तत्कालीन प्रवृत्तियों का तो दिग्दर्शन सा ही है।

यह अवश्य कहा जा सकता है कि आधुनिक काल के विषयों पर लिखे गये निबन्धों में लेखक ने जो कुछ कहा है यह स्वनिर्मित आधार पर खड़े होकर कहा है इसलिए उनमें आत्मविश्वास के साथ नूतनता का नेतृत्व करने का उत्साह और तज्जन्य द्रुत-संचरण स्पष्ट दीख पड़ता है; साथ ही भाषा भी भावों को लेकर इस पथ को केवल अपना ही देखा हुआ सा समझ कर सधे पगों से आगे बढ़ती गई है। अतः प्रस्तुत संकलन का यह अंश अधिक महत्वपूर्ण है। इस में

हिन्दी साहित्य पर अंग्रेजी के अतिरिक्त हिन्दीतर अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य को भी लेखक ने दृष्टि में रखा है और फिर भी उधर देखकर उसने अपने सामने उपस्थित अपने ही साहित्य को गौर से देखते हुए जो दोनों का एक साथ चित्र खींचा है उसमें साम्य और वैषम्य की उभरी हुई रेखाएँ ऐसी ताकताई (धूपछाँही) झलक देती हैं कि पाठक को यहाँ तक पहुंचने का परिश्रम, परिश्रम ही नहीं प्रतीत होता। 'प्रेमचन्द, ताराशंकर और आमन्द, शीर्षक निबंध में इस प्रकार की पर्याप्त सामग्री पाठक को मिल जाती है। 'स्कौल के दो चित्रकार' निबंध में हृदय और बुद्धि के समन्वय का चरम उत्कर्ष कहा जा सकता है जो 'चन्द्रगुप्त' के चाणक्य की स्मृति हरी कर देता है। इस निबंध का प्रारम्भ ही किसी रोमांटिक सिने-पिक्चर की भांति हुआ है। फिर भी प्रतिपाद्य विषय के विश्लेषण से लेखक की तीव्र बुद्धि और प्रतिभा का आभास मिलता है। प्रसाद की 'श्रद्धा' और गुप्त की 'गोपा' की तुलना में लेखक का यह कथन कितना सार गर्भित, तर्कपूर्ण और मार्मिक है :—

"समर्पण दोनों करती हैं परंतु एक का समर्पण अशेष है, दूसरी का आंशिक ··· ··· ······ एक निसर्ग-बाला है दूसरी गृहस्थ की कठ-पुतली; एक का हँसना और रोना हृदय की गति से चलता है, दूसरी सोचती है—अगर हँसू तो किसके लिये और रोऊँ तो किस के लिये—और ऐसा करने से कितना लाभ होगा और कितनी हानि। यदि प्रेम ही जीवन का सत्य है तो 'प्रसाद' की नारी विधाता की अनुपम कृति है परंतु यदि पद-पद पर नापतोल करते हुये ही संसार में निर्वाह हो सकता है तो गुप्त जी ने नारी के नाम से पाठक को उपयुक्त निर्देशक दे दिया है जिसके आँसू भी सार्थक (किसी अर्थ या मतलब से निकले हुये) होते हैं।"

यद्यपि लेखक की सभी मान्यताओं से सहमत नहीं हुआ जा सकता फिर भी वे रुक कर सोचने के लिये बाध्य अवश्य करती हैं। भारतवर्ष की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक सामग्री जो हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के समृद्ध साहित्य में सुरक्षित है उसे हिन्दी के माध्यम से हिंदी भाषियों के लिये सुलभ करने की आवश्यकता तो है ही, साथ ही हिंदी-साहित्य के साथ उसके तुलनात्मक अध्ययन की भी अपेक्षा है। इससे

राष्ट्रीयता की वृद्धि के साथ भाषा की व्यापकता बढ़ती है और साहित्य के लिये नवीन क्षेत्र खुलते हैं। हिन्दी—जगत् में इस प्रकार के प्रयासों की आज विशेष आवश्यकता है। इस संकलन को मैं ऐसे वाञ्छनीय प्रयासों की शृङ्खला में एक महत्वपूर्ण कड़ी मानता हूँ।

मुझे आशा है कि इस पुस्तक का साहित्य-क्षेत्र में उचित स्वागत होगा।

हरवंशलाल शर्मा
अध्यक्ष हिन्दी संस्कृत विभाग,
अलीगढ़ विश्व-विद्यालय
अलीगढ़।

विषय-सूची

"हम आत्मवान् हैं, हमारा भविष्य आशामय है;
इस आर्यभाव का प्रचार आवश्यक है।"

(प्रसाद : इरावती)

हिन्दी-काव्य के एक हजार वर्ष

अपने अप्रतिम व्यक्तित्व के प्रभाव से आचार्य शंकर ने 'शून्य' में भटकती हुई भारतीय जनता को 'आत्मा' का दिव्य दर्शन सुलभ करा दिया; फलतः उसके मुरझाये हुए मन में एक बार फिर आशा और उत्साह का संचार हो उठा। देशभाषाओं में इस आत्मवाद का जयघोष शंकर से लगभग २५० वर्ष पीछे प्रसारित हो पाया; हिन्दी काव्य का प्रारम्भ भी तभी से मानना चाहिए।

हिन्दी-काव्य के ये एक सहस्र वर्ष भारत, विशेषतः उत्तर भारत, के जीवन का यथार्थ चित्र उपस्थित करते हैं, और यह आश्चर्य तथा दुःख की बात है कि इस चित्रावली में बढ़ती हुई संकीर्णता पर ही पाठक का ध्यान जाता है—संकीर्णता दोनों ही प्रकार की है, कवियों का दृष्टिकोण संकीर्ण होता गया है और काव्य-विषय में भी संकोच आता गया है। धीरे-धीरे भावधारा में भी अस्थिरता आती गई और भारतीय समाज की चित्तवृत्ति द्रुततर गति से बदलने लगी, फलतः पहले युग की अवधि लगभग ४०० वर्ष है तो दूसरे की लगभग ३०० वर्ष और तीसरे तथा चौथे की क्रमशः २०० तथा १०० वर्ष के लगभग। सम्भव है अवधि के इस संकोच का एक मुख्य कारण दृष्टिकोण की संकीर्णता तथा काव्यविषय का संकोच हो।

हिन्दी-काव्य का प्रथम युग आशा तथा उत्साह का युग था। राजनीतिक शब्दावली में भले ही उस युग के शासन को सामन्तशाही कहदें परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि शासन में जनता की जितनी रुचि उस युग में थी उतनी हमारे साहित्यिक इतिहास में पीछे कभी नहीं दिखाई पड़ती। कवि आशा तथा उत्साह में मग्न होकर 'पितृभूमि' के गीत गाता था—उस प्रदेश के जिसमें वह रहता था, जिसमें उसकी जीविका चलती थी। उस कवि की दृष्टि व्यापक थी, उसके लिए जीवन आत्मसम्मान तथा मर्यादा का ही दूसरा नाम था—इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जहाँ आत्मसम्मान के लिए हँसते-हँसते प्राण देनेवाले वीरों की प्रशस्ति विरोधी पक्ष के कवियों ने भी गाई है। अस्तु, उस युग का कवि महत्ता को आत्मसम्मान के पैमाने से नापता था

और उसके काव्य का विषय होता था अखिल जीवन—राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक सब।

विदेशी आक्रमणों ने इस 'राष्ट्रीयता' को छिन्न-भिन्न कर दिया और नवीन शासन भारतीय जनता के लिए आश्वासन, आशा, उत्साह तथा सम्मान के स्थान पर भय, संशय, कायरता तथा दलन का ही चिह्न बना रहा। हिन्दू न शासन में भाग ले सकता था न सेना में सम्मिलित हो सकता था, उसके सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में भी संशयालु शासक को राजनीतिक विद्रोह की तैयारी दिखाई पड़ती थी, महिलाएँ निर्भय होकर घर से बाहर न निकल सकती थीं और पुरुष सुखी तथा सम्पन्न जीवन न बिता सकते थे। कुछ शासक भले ही इतने बर्बर न रहे हों, परन्तु ऊपर से नीचे तक शासन की व्यवस्था जिनके हाथ में थी वे स्वयं इतने असंस्कृत थे कि आत्मसम्मान नामक गुण का महत्व उनकी समझ से परे था। विदेशी शासन इतना बौना था कि स्वभावतः सीधे चलने वाला प्रत्येक व्यक्ति उसे अपने से बड़ा दिखलाई पड़ा और प्राय पैरों को काटकर उसने उसको अपने से छोटा करना चाहा; किन्तु जो अपने पैर कटवाने के लिए जबरदस्ती न सह सका उसका सिर काट दिया गया। भयभीत हिन्दू ने अपने घर में भीतर से ताला लगा लिया, और परवश होकर वह अपने गृहस्थ में ही मन बहलाने लगा, साहस तथा उत्साह के द्वार शायद सदा के लिए बन्द हो गये। सूरदास के काव्य में इस दयनीय जीवन का उल्लासमय चित्र मिलता है। सारे सामाजिक कार्यों को भूलकर, कंस के शासन से त्रस्त, नन्द और यशोदा घर के भीतर आँगन के दो कोनों में बैठ गये और अपने एकमात्र सुन्दर पुत्र से खेलने लगे, जब पुत्र नन्द की ओर जाता है तो यशोदा उसको प्यार का लालच देकर अपनी ओर खींचती हैं, और जब वह यशोदा की ओर मुड़ता है तो नन्द उसको प्यार से अपनी ओर बुलाते हैं.—

इततें नन्द बुलाइ लेत हैं, उततें जननि बुलावै री।
दम्पति होड़ करत आपुस में, स्याम खिलौना कीन्हौ री॥

समय बदला और तुर्क तथा अफगान राजाओं का निर्दय शासन समाप्त होगया। मुगल शासक जनता पर विश्वास करने लगे थे, अकबर को इतिहास में भारत का दत्तक पुत्र कहा जाता है, जहाँगीर तथा शाहजहाँ विलास में डूबे हुए थे। अस्तु इस युग म भारतीय कला तथा साहित्य को भी प्रोत्साहन मिला, यद्यपि विलासान्ध शासकों ने

इसको ऐन्द्रिकता से विकृत कर दिया। इस युग का साहित्य समाज का विलासमय चित्र उपस्थित करता है। काव्य का विषय और भी संकीर्ण होगया और कवियों ने छिपकर बैठे हुए परिवार से सन्तान को भी बाहर निकाल लिया तथा नायक और नायिका को यौवन का सुख लूटने के लिए घर के भीतर छोड़ दिया। उच्च आकांक्षाओं की दबी हुई सिसकियाँ अब फारसी पच्चीकारी के पीछे से सुनाई पड़ रहीं थीं, जिनका स्वर कभी तो इन्द्रिय-भोग के 'अष्टयाम' प्रोग्राम में सुन पड़ता था, और कभी किसी कुरंगाक्षी मुग्धा को फँसाकर उसका सर्वस्व लूटने में भलकता था। घर में बन्द रहने की अपेक्षा, समाज से अलग, प्रकृति की छाया में मानिनी नायिका को चाटूक्तियों, आभूषण-दान तथा चरणवन्दना द्वारा मनाने के लिए हिन्दुओं के देवता भी अवतार लेकर पृथ्वी पर आगये। समस्त चित्र इतना नग्न तथा घृणास्पद है कि युवकों में उच्च आदर्शों और महत्त्वाकांक्षाओं के स्थान पर अपौरुष का ही मन्त्र फूँकता है; संयम के स्थान पर इन्द्रियों का दासत्व तथा उत्साह के स्थान पर निष्क्रियता इसका प्राण है। औरंगजेब के क्रूर हाथों से भी 'कला' की ये कड़ियाँ न टूट सकीं और यह आश्चर्य की बात है कि इस युग का सबसे बड़ा कवि बिहारी औरंगजेब के शासन काल में ही चमका—यद्यपि वह औरंगजेब की राजधानी से दूर रहता था।

भाग्य ने पलटा खाया और मुसलमान के स्थान पर अंग्रेज को भारत की गद्दी पर बैठाल गया। जीवन में संघर्ष बहुत आगया था इसलिए मुगलकालीन विलास की सुविधाएँ लुप्त होगई। मन का विलास तथा समाज का संघर्ष युवकों को कल्पना-जगत में ले गये। कवि का दृष्टिकोण और भी संकीर्ण बनगया। उसने अब नायक तथा नायिका को एक दूसरे से दूर अलग-अलग स्थानों पर छोड़ दिया, संयोग के काल्पनिक सुख की कामना में तड़पने के लिए। इस काव्य में वास्तविक प्रेमपात्र के स्थान पर उसकी 'छाया' ही रहती थी, और जिन संयोग-सुखों की कामना की जाती थी वे भी छायावत् धूमिल तथा वासना की छायामात्र ही थे। यह प्रवृत्ति उस समय तक चलती रही जब तक कि कवि को राजनीतिक स्वतन्त्रता और फिर आर्थिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता का नाद न सुनाई पड़ा। आज का काव्य इन्हीं स्वरों की प्रतिध्वनि है, जिसमें एकसूत्रता का अभाव पाठक को कभी-कभी चौंका कर अशान्त ही कर सका है।

इस प्रकार हिन्दी काव्य का यह प्रवाह राष्ट्रीयता से पारिवारिकता, पारिवारिकता से शृङ्गारिकता, तथा शृङ्गारिकता से 'आत्मरति' में बदलता हुआ संकीर्णतर होता गया है। इस प्रवाह के साथ कुछ धारायें ऐसी भी थीं जिन्होंने अपना अस्तित्व अलग सुरक्षित रखा। तुलसी तथा प्रसाद दो ऐसे महान् कवि हैं जिन्होंने अपने भरोसे खड़े होकर अपना अलग मार्ग निकाला—ऐसा मार्ग जिसमें व्यापकता थी, जिसमें सर्वकालीनता थी, तथा थी भारतीयता की अमिट छाप। सूफियों का प्रेम-पंथ भी निराला था परन्तु वे अपने विदेशी प्रचार में सफल न हो पाये। कबीर ने आमूल परिवर्तन का प्रयत्न किया था परन्तु उन को किसी में विश्वास न था, इसलिए वे भटक कर ही विलीन हो गये और संस्कृत जनता उनका स्वागत न कर सकी। आधुनिक कवियों में से कई ऐसे हैं जिन्होंने हवा को देखकर अपना रुख बदला है, जिनका इतना अधिक 'विकास' हुआ है कि पाठक के लिए उनका कोई सन्देश भी है या नहीं—यह नहीं कहा जा सकता।

गोस्वामी तुलसीदास हृदय के बड़े उदार थे, इसलिये उनका सन्देश मुख्यतः समन्वय का है; उन्होंने 'नाना पुराण निगमागम' सम्मत सभी बातें स्वीकार करलीं; और उन वैयक्तिक प्रवृत्तियों का कड़ा विरोध किया जो ध्वंसात्मक अहंकार तथा असंयत सामाजिक जीवन की आश्रय थीं और जिनके फलस्वरूप दस लोगों को बहका लेने वाला कोई भी व्यक्ति गुरु या अवतार, और यदि परिस्थितियाँ अनुकूल रहीं तो, स्वयं 'महाप्रभु' बन जाता था। कलियुग के मल ने धर्म को आच्छन्न कर रखा है और सद्ग्रन्थों का लोप कर दिया है फलस्वरूप दम्भियों ने अपने अपने विचित्र 'पंथ' चला दिए हैं—

कलिमल ग्रसे धर्म सब, गुप्त भये सद्ग्रन्थ।
दंभिहि निज मति कल्पि करि, प्रगट करे बहु पंथ॥

तुलसीदास जितना ध्यान ज्ञान तथा पूजा पर देते हैं उतना, या उतने से भी अधिक, आदर्श सामाजिक जीवन पर। बढ़-बढ़ कर गाल बजाने वाले अहंकारी पण्डितों के दम्भ को दूर करने के लिए उन्होंने भक्ति की अमोघ औषधि बाँटी और आत्मोद्धार का बिगुल बजा दिया। उनके सिद्धान्त हैं—

बड़े भाग मानुष तन पावा।
सुरदुर्लभ सब ग्रन्थहि गावा॥

साधन धाम मोक्ष कर द्वारा।

× × ×

एहि तन कर फल विषय न, भाई॥

चौरासी लाख योनियों में जो सर्वोत्तम मानव योनि है केवल उसी में साधन किये जा सकते हैं फिर अन्य योनियों में भी सुलभ इन्द्रियलिप्सा आदि व्यापारों में इस अमूल्य जीवन को खो देना कौनसी समझदारी है? आगे—

करम, वचन, मन छाँड़ि छलु जब लगि जन न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहु नहिं, किये कोटि उपचार॥

जब तक भगवान् से सच्ची लगन नहीं होगी तब तक सुख की संभावना ही व्यर्थ है—आनन्द-प्राप्ति के लिए आनन्दराशि के निकट ही निरंतर वास करना चाहिये।

तुलसी का दृष्टिकोण धार्मिक है, आजकल के अर्थ में सामाजिक नहीं; वे रामनाम तथा रामभजन के बिना एक कदम भी न चल सकते थे; चातुर्वर्ण्यम् उनके समाज का आधार है। परन्तु हमारा युग दूसरा ही है, हमको पुरानी बातों में उस समय तक श्रद्धा नहीं होती जब तक कि या तो बाहर वाले उनकी प्रशंसा न करने लगें या विज्ञान अथवा मनोविज्ञान उनको सिद्ध न करदे। इसीलिए आधुनिक कवियों ने व्यक्तिगत सुख तथा समष्टिगत सुख को समस्या को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सुलझाने का प्रयत्न किया है। जयशंकर प्रसाद का ऐसा ही प्रयत्न है; हम इस पर विचार करते हैं।

- समस्या। यदि प्रसाद के नाटकों की कथावस्तु का विश्लेषण किया जावे तो ज्ञात होता है कि संघर्ष का मुख्य कारण कोई न कोई मानसिक व्यापार है—कोई न कोई विष प्रकट होकर विद्वेष की अग्नि फैला देता है। आत्मविश्वास के अभाव में एक व्यक्ति दूसरे को गलत समझने लगता है, उससे ईर्ष्या रखता है, भयभीत होता है, उसके विरुद्ध कार्यवाही करता है और अन्ततोगत्वा उसका प्रथम शत्रु बन जाता है तथा प्रायः उसको भी अपना अमित्र बना लेता है। अनन्त-देवी को स्वयं में विश्वास न था इसलिए उसने सोचा कि उसका सौतेला पुत्र स्कन्दगुप्त राज्याभिषिक्त होकर उसका अनादर करेगा, अतः उसने षड्यन्त्र रचकर विदेशी आक्रमणकारियों को बुलाया, विरोधी

शक्ति से मेल किया और देश पर आपत्तियों के बादल छागये। विजया को अपने गुणों में विश्वास न था इसलिए उसने सोचा कि जिसको वह इतना प्यार करती है वह पुरुष उससे विवाह न करके उसकी सखी इन्दुमेता का पाणिग्रहण कर लेगा, विजया अपने प्रिय की विरोधिनी बन गई और अपनी सखी की शत्रु, उसका पतन होता चला गया और अन्त में उसको आत्महत्या करनी पड़ी। इसी प्रकार भटार्क नाम के एक महत्त्वाकांक्षी नवयुवक ने आत्मविश्वास के अभाव में सोचा कि जीवन में उसके लिए उन्नति का द्वार अवरुद्ध है, फलतः में उसने गलत रास्ता ले लिया और जो शक्ति देशसेवा में लगनी चाहिए थी वह देशविरोधी कार्यों में लगने लगी। अन्य नाटकों का भी इसी प्रकार विश्लेषण किया जा सकता है। समस्त कथा को निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक भाषा में इस प्रकार कहेंगे :—

१. कामना या आशा
२ अश्रद्धा (आत्मविश्वास का अभाव)
३ संशय
४. भय, क्रोध आदि
५ संमोह
६, विनाश

कामना तथा आत्मविश्वास का अभाव संशय एवं भय क्रोध आदि के द्वारा व्यक्ति को मुग्ध बनाकर पथभ्रष्ट कर देते हैं और उसका विनाश हो जाता है। पिता से जिस प्रकार की 'आशा' की जाती है उस प्रकार उसने सन्तान का पालन पोषण नहीं किया (अश्रद्धा), अब वह उसके गुणों के प्रति संशयालु है, वह दुःखी है (विनाश)। बहिन ने भाई को आशानुरूप प्रेम नहीं दिया (अश्रद्धा), उसको डर है (संशय) कि भाई भी उसको नहीं चाहेगा (कामना), उसके लिए जीवन भार बन जाता है (विनाश)। इसी प्रकार मित्र, सेवक, स्वामी, सहयोगी, पत्नी, आदि सब यह सोचते हैं कि जीवन का भार उठाये नहीं उठता, किसके लिए सब किया जावे यथाशक्ति मथन करने पर भी पानी से नवनीत नहीं निकलता। जीवन व्यापार में हम जितनी कम पूँजी लगाते हैं उतने ही हम असफल रहते हैं और लाभ के स्थान पर हमको प्रतिपद हानि उठानी पड़ती है, फलतः हम या तो दिवाला निकाल बैठते हैं या बेईमानी करने लगते हैं—जिससे आगे चलकर बाजार में हमारी

परनामी होजाती है और व्यापारी के रूप में हम सदा के लिए विनष्ट होजाते हैं। जो बात व्यक्ति के विषय में कही गई है वही समष्टि पर भी लागू होती है, और जो समस्याएँ सामाजिक इकाई की हैं वे ही राष्ट्रों की भी हैं।

सुझाव। प्रसाद ने समाज की इस समस्या का व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत किया है। उनके नाटकों का दर्शन पर ज्ञात होता है कि बहुत थोड़े से पात्रों को ही आत्म हत्या करनी पड़ती है, शेष पात्र प्रकृतिस्थ होकर अपने को सुधार लेते हैं—जो आशंका नंगी तलवार के समान सिर पर लटक रही थी उसके हटने पर मन की सारी कटुता दूर हो जाती है और पिछली भूलों में सुधार हो जाता है। स्वभावतः प्रत्येक व्यक्ति पवित्र तथा निष्कलंक है, उसमें कोमलता तथा लचक होती है। जीवन का संघर्ष कोमलता के स्थान पर कठोरता ला देता है और जिसके जीवन में असफलताएँ और निराशाएँ जितनी अधिक आती हैं उतना ही वह अनैसर्गिक, क्रूर तथा कठोर बन जाता है—भूमि का जो भाग पत्थर बना है वह भाग्य के थपेड़ों से, समाज की ठोकरों से, या लाहे की मार से ही। कोमलता के स्थान पर कठोरता का यही बलात् निक्षेप आपदाओं का कारण है। अभागा है वह व्यक्ति जो अपनी प्रकृति को खोकर भयंकर जन्तु बना हुआ है, जिसके मन में उद्वेग की घटाएँ छाई हुई हैं और जो कुत्ते के समान दाँत निकालकर दूसरे को डराना चाहता है, वह दया का पात्र है, घृणा का नहीं।

इस विकृति का एक ही उपचार है प्रकृति। संसार को सम्हालने से पहले अपने आपको ठीक करलो, अगर भूल से किसी ने तुमको सुख के कुछ कण दे भी दिये तो भी तुम उससे लाभ न उठा पाओगे, क्योंकि तुम्हारी झोली फटी हुई है। हमको करना केवल यह है कि प्रकृति से विकृति को दूर करदें अर्थात् कठोरता के स्थान पर कोमलता, संकोच के स्थान पर विस्तार, तथा संकीर्णता के स्थान पर उदारता को फिर से अपनी प्रकृति में ले आयें। तब हम दूसरे के विश्वास के योग्य हो सकेंगे और दूसरे पर विश्वास कर सकेंगे।—

"विश्वास करना और देना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्याएँ हल हो जायँगी।" (स्कन्द गुप्त)

आगे चलकर 'विश्वास करना' और 'विश्वास देना' इन दो व्यापारों का

एक संयुक्त नाम 'श्रद्धा' रखा गया है। इसको 'आस्तिक बुद्धि' भी कहते हैं और इसका अभिप्राय यह है कि हमको भीतर तथा बाहर सर्वत्र आत्मा में विश्वास करना चाहिए—आत्मा (विश्वात्मा तथा जीवात्मा) सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् है, कोई भी शक्ति इसके बल को व्यर्थ नहीं कर सकती। हो सकता है कि हमको कुछ भौतिक हानि उठानी पड़े, परन्तु अनित्य वस्तु की प्राप्ति या हानि कोई अर्थ नहीं रखती; यदि जीवित रहना है तो आत्मसम्मान के साथ अन्यथा दिन पूरे करने के लिए ही आत्मग्लानि का भार क्यों उठाया जाय। प्रसाद ने इस सिद्धान्त को आर्यसंस्कृति का मूल स्वीकार करके इसको 'आर्यभाव'[1] का नाम दिया है और भारतीयों में इसी की प्रतिष्ठा का आग्रह किया है :—

"सर्व साधारण आर्यों में अहिंसा, अनात्म और अनित्यता के नाम पर जो कायरता, विश्वास का अभाव, और निराशा का प्रचार हो रहा है, उसके स्थान पर उत्साह, साहस और आत्म विश्वास की प्रतिष्ठा करनी होगी।" (इरावती)

प्रसाद ने इस सिद्धान्त का सामान्य उपदेश नहीं दिया, प्रत्युत इसको काव्यमयी भाषा में पाठक के सामने रखा है। पुरुष के जीवन में चिरकाल से बाह्य संघर्ष रहता चला आया है इसलिए वह कठोर, संशयालु तथा संकीर्ण बन गया है। नारी को बाह्य संघर्ष में नहीं पिसना पड़ा इसलिये आज भी वह दया, सेवा तथा ममता की देवी है। नारी का कोमल हृदय समाज तथा प्रकृति दोनों के लिए निस्स्वार्थ भाव से खुला हुआ है। पुरुष मशीनों की खट-खट और कर्मचारियों की भक-भक में चिड़चिड़ा बन जाता है, तो नारी सौरभ के शीतल झोंके से उल्लसित होकर रोमाञ्चित हो जाती है और उसके कपोलों की लालिमा पाटल की आभा को पराजित करने लगती है। प्रकृति की ये उमगें नारी को विभ्रम का नैसर्गिक उपहार दे जाती हैं और वह पुरुष का 'शीतल उपचार' बनकर उसकी कठोरता को भी द्रवित कर देती है—

मधुर माधव ऋतु की रजनी, रसीली सुन कोकिल की तान।
सुखी कर साजन को सजनी, छबीली छोड़ हठीला मान।

---

1 "हम आत्मवान् हैं, हमारा भविष्य आशामय है, इस आर्यभाव का प्रचार आवश्यक है।" (इरावती)

प्रकृति की मदमाती यह चाल, देख ले जी भर प्रिय के संग।
डाल दे गलबाँही का जाल, हृदय में भर ले प्रेम उमंग।

(जनमेजय का नागयज्ञ)

अस्तु, विकृत जीवन को स्वस्थ बनाने का एकमात्र उपाय कोमलता, स्नेह या प्रेम है, क्योंकि आनन्द का स्रोत विश्वात्मा से एकात्मभाव स्थापित करना है, जो ज्ञान के द्वारा भी होता है परन्तु हृदय के योग से सहज ही सुलभ है। जब कभी प्रसाद इस कोमलता की माँग करते हैं तब उनकी दृष्टि पहले नारी की ओर जाती है। शक्ति के बिना शिव भी शव है, तब नारी के बिना सामाजिक जीवन किस प्रकार से काम्य हो सकता है। मध्ययुग में नारी पुरुष का बन्धन थी क्योंकि पुरुष कायर था, आज नारी पुरुष की प्रेरणा है क्योंकि पुरुष में आत्मविश्वास फिर से जग रहा है। नारी की मधुर प्रेरणा से ही पुरुष अपने सुप्राश की प्राप्ति करके पूर्ण बन जाता है और उल्लसित होकर इस विश्व की मंगलमूर्त्ति के प्रति कृतज्ञता के अपने उद्गार प्रकट करता है:—

तुमने हँस हँस मुझे सिखाया, विश्व खेल है खेल चलो।
तुमने मिलकर मुझे बताया, सबसे करते मेल चलो॥

(कामायनी)

वीर-काव्य की परिस्थितियाँ

ब्राह्मण धर्म की विकारग्रस्त वर्णाश्रम प्रथा से बिलबिला कर जब पददलित जनता ने महात्मा बुद्ध के नेतृत्व में विद्रोह का स्वर उठाया तो देश में आमूल परिवर्तन प्रारम्भ हो गया, पुराने विचार पुरानी भाषा, पुराना साहित्य, पुराने प्रमाण (धार्मिक ग्रन्थ आदि) सभी को त्याज्य समझा गया, और बुद्ध के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण इस विद्रोह ने थोड़े ही समय में अद्भुत परिवर्तन दिखा दिया; ऐसा जान पड़ने लगा मानो इससे पूर्व या तो कुछ था ही नहीं या यदि था भी तो अधिकतर सारहीन ही था। परन्तु वृक्ष के साथ उसकी छाया भी विलीन हो गई और उसकी पत्तियाँ खड़खड़ का सूखा शब्द करती हुई अपने निर्जीव अस्तित्व का ही प्रतीक बन बैठीं। एक ओर बौद्धों में विकार पर विकार आने लग गये, दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म ने भी सचेत होकर करवट बदला। अतः शंकराचार्य की एक ललकार ने अवैदिक मतों के छक्के छुड़ा दिये। बहुत दिनों के उपरान्त वर्णाश्रम धर्म फिर सिंहासनासीन हुआ। पतित जनता में स्वतन्त्र चिन्तन का चिर लोप हो चुका था अतः समाज के अधिकारियों ने अवैदिक मतावलम्बियों के अनाचार का लक्ष्य बनाकर जनता को उनसे विमुख कर दिया और ब्राह्मण धर्म की एक बार फिर प्रतिष्ठा की।

विद्रोह तो शान्त हो गया परन्तु उसके कुछ चिह्न न मिट सके, जिनमें से मुख्य भाषा विषयक था, ब्राह्मण धर्म वाले भी यह समझ गये कि अब देववाणी मानव-जगत के लिये व्यवहार्य नहीं रही। अवैदिक अनात्मवाद चिन्तन के क्षेत्र में मायावाद बनकर आया, और सामाजिक जीवन में वह भाग्यवाद,[1] आत्मत्याग तथा स्वामि-सेवा

[1] श्री राहुल सांकृत्यायन ने 'सिद्ध सामंत-युग' के 'निराशावाद' (भाग्यवाद) का कारण सामंतों की युद्धक्षेत्र में असफलता को माना है, परन्तु वीरकाव्य का भाग्यवाद एक उदात्त भावना की उपज है जिसमें अवसाद की अपेक्षा उल्लास अधिक है, आगे चल कर भक्ति-काव्य में अवश्य पराजय का प्रभाव माना जा सकता है।

(हिन्दी काव्य-धारा, अवतरणिका)

में बदल गया। नारी भोग तथा अविश्वास की ही पात्र[1] समझी जाने लगी। विद्रोह की प्रतिक्रिया भी जम कर हुई और वेदशास्त्र एवं वेदोक्त गुणों के प्रति भरसक श्रद्धा दिखलाई गई, जनता की भाषा को साहित्य में स्थान देकर भी उसको संस्कृत भाषा से सजाना प्रारम्भ हो गया। विक्रम को एक सहस्र वर्ष बीत भी न पाये थे कि भाषा में एक नया साहित्य पनप उठा, जिसका उत्तर भारत के राजपूत राजाओं से निकट सम्बन्ध है और जिसमें ब्राह्मण धर्म की फिर से स्थापना है।

हिन्दी भाषा का जन्म तो बहुत पहले ही माना जा सकता है परन्तु हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ इसी पुनरुत्थान काल से ही मानना पड़ेगा[2], उस दिन से आज तक साहित्य में यही अविच्छिन्न विचार-धारा दिखलाई पड़ती है, समय समय पर अन्य प्रकार के विचार भी मिलते हैं जैसा कि स्वाभाविक है परन्तु उनका अवसान भी ब्राह्मण धर्म (या वैष्णव धर्म) की पुष्टि में ही होता है। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म के आन्दोलन ने ब्राह्मण धर्म की अनेक कुरीतियों को दूर करके उसे हिन्दी साहित्य को स्थायी स्रोत के रूप में दिया परन्तु कला के लिए हमारा साहित्य बौद्धों की अपेक्षा जैनों का अधिक ऋणी है। हिन्दी साहित्य को जैन काव्य की अपभ्रंश साहित्य में सुरक्षित निधि परम्परा से मिली छन्द, अलंकार तथा वर्णन सरणी उसका प्रभाव शताब्दियों तक मिलता है[3]। जैनों तथा बौद्धों का दोहा छन्द तो हिन्दी का अमर छन्द बन गया है अपभ्रंश की वर्णनशैली भी जायसी तक तो खूब मिलती है। वीरकाव्य का सौन्दर्यपक्ष तो मुख्यतः इसी अपभ्रंश परम्परा का विकसित रूप है। इस भाँति हम देखते हैं कि

---

१ दियर इज एम्पिल एवीडेन्स टु शो दैट वीमन वर एसाइण्ड एन इनफीरियर पोजीशन इन दी सोशल स्केल। (पृ० २९१)

—डा० ईश्वरी प्रसाद : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (१९३८)

२ हरनाथ साहेबेर मते ८०० खृ० हइते १२०० खृ० पर्यन्तेर मध्ये प्राकृतेर युग लुप्त ओ गौडीय भाषासमूहेर युग उद्भूत हइयाछिल। बौद्ध शक्तिर पराभवे हिन्दु धर्मेर पुनरुत्थाने हिन्दू जातिर नव चेष्टार स्फुरणे ओ संस्कृतेर नवविकाशे सेइ परिवर्तन एत द्रुत हइल......। (१२)

श्री दीनेशचन्द्र सेन : बंगभाषा ओ साहित्य (१९०१)

३ श्री राहुल सांकृत्यायन: हिन्दी काव्य धारा, अवतरणिका, पृ० १२-१३

परम्परा मिली थी इसका जनता के जीवन से निकट [illegible]लिये उसमें स्वाभाविकता का ही प्रधान आकर्षण है।

नैतिक परिस्थितियाँ

वैदिक संस्कृति अहिंसा को परम धर्म न मानकर व्यापक धर्म का एक अंग विशेष मानती है, इसलिए इस पुनरुत्थान का नेतृत्व "एक जीव की हत्या से डरनेवाले तपस्वी बौद्ध" भिक्षुओं को न मिलकर शस्त्रजीवी क्षत्रियों को मिला, जिनको इतिहास में 'राजपूत' कहा जाता है। राजपूत राजाओं में एकछत्र शासन की प्रथा न थी, एक नरेश दूसरे राजा पर आक्रमण अवश्य करता था परन्तु न तो उसके राज्य को अपने राज्य में मिलाता था और न विजित प्रजा पर लूट मार आदि अत्याचार ही करता था; चक्रवर्ती भूमिपाल "केवल यश के लिए ही विजय"[1] करते थे, जिसमें न तो बौद्धों की कायरता को स्थान है और न यवनों की अमानुषिक बर्बरता का आदेश।

परमेश्वर संसार की सबसे बड़ी शक्ति है और इस संसार का परमेश्वर (या परमेश्वर का प्रतिनिधि) राजा है,[2] ब्राह्मण धर्म के इस विचार की इस युग में बड़ी धूम रही, राजनीति में इस को 'दैवी अधिकार' कहते हैं। राजाओं का एकसत्तात्मक शासन था, प्रजा का उस में कोई हाथ न था—स्थायी सेना रखने की प्रथा घटती जाती थी[3] परन्तु प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति राजा के लिए प्राणत्याग करना अपना परम कर्त्तव्य समझता था। राजा के सामन्त तथा दरबारी सभी क्षत्री (कम से कम कर्म से) होते थे, जिनका यह विश्वास था कि एक न एक दिन तो मरना ही है फिर क्यों न स्वामी की सेवा में तन अर्पित करके इस लोक में यश तथा परलोक में स्वर्ग सुख प्राप्त किया जाय।[4] जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भगवदिच्छा समझ कर किया गया निष्काम कर्म

(१) यशसे विजिगीषूणाम्—रघुवंशम्

(२) सो नृप भ्रम वेदेन कह्यौ, नृप परमेश्वर आहि।

(पृथ्वीराज रासो, पृ० २०१७)

(३) श्री रघुवीरसिंह 'भारतीय इतिहास में राजपूतों के इतिहास का महत्व' (द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४५-६)

(४) जे भगो तेह मरे, तिन कुल लाइय लेह।

भिरे सु नर मब जोति मिलि, बसे अमरपुर तेह॥

(पृथ्वीराज रासो, ११६८)

भगवान को समर्पित हो जाता है कर्त्ता उस के लिए उत्तरदायी नहीं समझा जाता, उसी प्रकार ऐहिक जीवन में अपना व्यक्तित्व राजा या स्वामी को समर्पित कर देना इस युग का सबसे बड़ा प्रजा धर्म था।[1] शासकों के स्वभाव में स्वाभिमान की मात्रा विशेषत. ध्यान देने योग्य है परन्तु वह स्वाभिमान कोरा अहंकार मात्र ही न था इसमें अपने पद तथा अपनी मर्यादा का सदा ध्यान रहता है एक सामन्त जो कल तक एक सामान्य सैनिक था आज शासक बन गया तो उस का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि अपने पद की मर्यादा की रक्षा अपने प्राणों से खेलकर भी करे, यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह नीच है, कुल कलंक है, उस पद के योग्य नहीं है। फलतः छोटी छोटी बातों के लिए ही बहुत बड़े बड़े युद्ध ठन जाते थे, अधिकतर युद्धों का कारण या तो अपनी मर्यादा-रक्षा है या प्रजा के किसी सामान्य कष्ट का बदला, शासक की दृष्टि से दोनों में तनिक भी अन्तर नहीं है। प्रजा के लिए इतना त्याग करने के कारण ही उस युग का राजा 'शासक' न कहलाकर 'प्रजापालक' कहलाता है। एक व्यापक अर्थ में उसको प्रजा का पिता ही समझना चाहिए।[2]

राजपूतों के स्वभाव में स्वाभिमान, आत्मत्याग तथा प्रजापालन के अतिरिक्त दो वृत्तियां और भी थीं एक की भोगप्रियता तथा दूसरी को युद्धप्रियता कहा जा सकता है। अवैदिक मतों ने संसार से पलायन का जो आदर्श रखा वह ब्राह्मण धर्म को ग्राह्य न था। इसलिए इस युग में भोग्यवस्तुओं का निर्लिप्त भोग नेताओं का ध्येय बन गया। राजाओं के अन्तःपुर में न केवल एक से एक बढ़कर रूपवती कामिनी ही दिखलाई पड़ती थी प्रत्युत विलास के सभी साधन, कला के सभी उपकरण, अमूल्य रत्न, प्रतिभाशाली व्यक्ति अलौकिक अस्त्र-शस्त्र, देश विदेश के अश्व आदि भी भरे रहते थे, और इसी सामग्री से उनकी महत्ता की माप होती थी; उत्सवों, त्योहारों आदि पर इसका प्रदर्शन आवश्यक था; इसकी प्राप्ति तथा रक्षा के लिए प्राण तक त्याग देना

---

(१) स्वामित्त तेज तिस सब तपन, दोष न लग्गे जोर जस।

(पृ० रा० १२१६)

(२) जैसा कि कालिदास ने दिलीप के विषय में कहा है:—

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥ (रघुवंशम् १।२४)

अपव्यय न समझा जाता था। परन्तु ध्यान रखना होगा कि राजपूत राजा विलासान्ध न थे अपने पराक्रम से अर्जित वस्तु का भोग वे अपना कर्त्तव्य समझते थे, परन्तु अनुचित उचित का उनको सदा ध्यान रहता था। मुसलमानों के समान, राजपूतों ने परनारी पर कभी दृष्टि नहीं डाली, हां, किसी भी राजा की अविवाहिता कन्या को अपने पराक्रम से जीत कर सहधर्मिणी बनाना उनका प्रिय विषय था। उन का विश्वास था कि परनारी की रक्षा से जय तथा परनारी पर कुदृष्टि रखने से पराजय होती है।[1]

युद्धप्रियता इन राजाओं का दूसरा गुण है, जो जितना अधिक विलासी उतना ही अपनी आन पर मर मिटने वाला। प्रेम निमन्त्रण पाकर जिस सुन्दरी को प्राप्त करने के लिए अपने प्राणों की बाजी तक लगादी और अपने प्रिय सामन्तों को खो दिया, उसकी पालकी राजप्रासाद तक पहुँच भी न पाई थी कि किसी शत्रु के अत्याचार का समाचार मिला तत्काल ही आँखें लाल हो गईं, भुजदंड फड़कने लगे, घोड़े में एड़ लगाई और जुझारू बाजे बज उठे। वीरता का इतना सजीव रूप संसार के दूसरे साहित्यों में कदाचित् ही मिले। शृङ्गार और वीर में कोई विरोध नहीं है, दोनों की सहप्रवृत्ति[2] जीवन की ही सूचक है, इन्द्रिय भोगलिप्सा शृंगार नहीं है, और बर्बरता को वीरता नहीं कह सकते, जिसमें जीवन होगा वह संसार में अज्ञानियों के समान लिप्त भी रहता है और ज्ञानियों के समान उसका तृणवत् त्याग भी कर सकता है। शृङ्गार तथा वीर की यह सहप्रवृत्ति अवैदिक मतों में न थी।

सामाजिक जीवन

उस युग में ईश्वर तथा भाग्य में अत्यधिक विश्वास किया जाता था, भाग्य बड़ा प्रबल है जो कुछ विधि ने लिख दिया है वह मेटा नहीं जा सकता,[3] मनुष्य इसीलिए यह नहीं कह सकता कि कल क्या हो

---

१ परयोषित परसै नहीं, ते जीते जग बीच।
पर तिय तक्कत रैनदिन, ते हारे जग नीच।
(पृ० रासो)

२ श्रवन सुनै वर और रस, सिंचत राग अपार।
हरषि उठे दोउ तिहि समै, मिलन वीर शृङ्गार।
(हम्मीर रासो, १४८)

३ लिखिता विचित्र निरम्यौ पटल, निमिष न इन खिम्मिय टरय।
(पृ० रासो, २३७३)

जायगा[1] बड़े-बड़े बलवान् व्यक्ति हो गये हैं परन्तु विधि के सामने सब को झुकना पड़ा है। यही भाग्यवाद आगे चलकर जायसी तथा तुलसी में पग पग पर मिलता है। परन्तु वीरकाव्य का भाग्यवाद व्यक्ति को अकर्मण्य नहीं बनाता, प्रत्युत फलाफल से निरपेक्ष होकर उत्साहपूर्वक कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करता है। इसी भाग्यवाद का फल था कि प्रत्येक राजपूत बिना आगा-पीछा सोचे ही रण क्षेत्र में कूद पड़ता था और रक्त का नाला बहने लगता था। प्राणत्याग तो उस समय एक सामान्य विनोद मात्र था, जब दो व्यक्ति लड़ेंगे तो यह निश्चय है कि एक ही जीवित रहेगा[2]—कोई भी जीवित रहे इसका कोई अन्तर नहीं। जगनिक ने क्षत्रियों की आयु १८ वर्ष ही मानी है[3] इसके उपरान्त वे वयस्क हो जाते हैं और किसी भी भिड़ंत में उनका शरीर खेत रह सकता है। बौद्ध लोग जीवन की अपेक्षा मृत्यु को अधिक सत्य मानते थे, अपने स्वभाववश राजपूतों ने यही प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखाया। कायरता एक कुल कलंक था, जिसमें सब से अधिक लज्जा जननी को आती थी,[4] क्या उसने ऐसे पुत्र को जन्म दिया जो कायर बनकर कृपण के समान अपने जीवन की रक्षा करना चाहता है? वीरों का विश्वास था कि युद्धस्थल में अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए प्राण देने से जीव की मुक्ति हो जाती है[5], इसलिए जब तक इस शरीर रूपी मंदिर में आत्मा का निवास है तब तक इसको अपवित्र न बनने देना चाहिए—इस में तेज हो, साहस हो, अत्याचार दमन की शक्ति हो। प्राणों के निकल जाने पर फिर शरीर से कोई मोह नहीं रहता, इसलिए अपने निकटतम सम्बन्धी को वीरगति प्राप्त करते देख कर राजपूत के मन में क्षोभ नहीं होता, प्रत्युत उत्साह की मात्रा बढ़ जाती है।

---

१ जाने न कोइ इह लोक में, कौन भेद कत सुझिझये।
(पृ० रा०, २४२५)

२ यह प्रगट बत संसार महि, भिरैं दोय, एकै रहै।
(हम्मीर रासो, ११४)

३ बरिस अठारह छत्री जीवैं, आगे जीवन को धिक्कार। (आल्ह खंड)

४ वा जननिय का दोष, मरत छत्री को सचहुय।
(पृ० रा०, २०२६)

५ बहुरि न हंसा पंजरह, जो पंगर छुटि धार।
(वही, १२११)

वीरयुग में नारी के दो रूप मिलते हैं—वीरमाता और वीरपत्नी वीरमाता का जीवन उस समय धन्य माना जावेगा जब उसका पुत्र शत्रु से युद्ध करता हुआ या तो विजयी होकर लौटे या स्वयं वहीं अपना शरीर त्याग दे, रण में सोये हुए पुत्र के लिए माता शोक न करेगी प्रत्युत उसकी वीरता का कीर्तन सुन कर मनमें फूली न समावेगी। वीरपत्नी का जीवन भी पति के साथ है तथा मरण भी[1], इसलिए पति की वीरगति का समाचार पा कर वह सानन्द शृङ्गार करके उसके समागम के लिए स्वर्ग चली जावेगी। जो पत्नी ऐसा नहीं करती (कदाचित् ही कोई ऐसी राजपूत बाला हो) उसको नरक मिलता है।[2] उस युग में स्त्रियों से दूर भागने वाली अवैदिक वृत्ति का पूरा विरोध हुआ[3], और ऐहिक जीवन के लिए स्त्री का संग आवश्यक समझा गया[4]। महाकवि च. ने संयोगिता के पूर्व जन्म का वर्णन करते हुए बतलाया है कि स्त्री ने सुर, नर, असुर सब को मोह लिया है स्त्री के कारण देवता मानव शरीर धारण करते हैं, और स्त्री के कारण ही वीर लोग मानव शरीर का हँसते-हँसते त्याग देते हैं :—

> न्याय छुट्यौ मुनि रूप इन, सुरति प्रीय त्रिय आहि।
> जा मोहे सुर नर असुर, रहे मग्न सुख चाहि॥
> इनह काज सुर धरत, सूर तन तजत ततच्छिन।
> (पृथ्वीराज रासो, १२४३)

इस में संदेह नहीं कि उस युग में नारी के प्रति एक दूसरी भावना भी दिखलाई पड़ती है; वह आकर्षण का विषय न हो कर घृणा

---

१ हम सुख दुक्ख संग समथ्थ। हम सुरग वास छुट्टै न सथ्थ॥
हम भूख प्यास अंगमै देव। इम सर समान पति हंस सेव॥
(पृ० रा० २१४७)

२ निहचै वेद नरक तेहि भाखै।
पिय की मरत त्रिया तन राखै॥ (पृ० रा० २६६१)

३ संसार त्रिया बिन नाहिं होत।
संजोगि सकति सिव माँहि जोत॥ (पृ० रा० ११७७)

४ तुलना कीजिए :— कलत्रे गृहीर सुख, कलत्रे संसार।
कलत्रे इहते देह, पुत्र परिवार॥
(कृत्तिवास : रामायण)

की पात्र बनी हुई थी। नारी को बुद्धि में हीन[1], अविश्वास की पात्र[2], *तथा पैर की जूती के समान[3] तुच्छ तक कह दिया गया है।* एक बात अवश्य है कि नारी का जीवन अनिश्चित था, वह वीरभोग्या थी उस को स्वयं ही ज्ञात न था कि कौन वीर उसको जीत कर उसका स्वामी बन जावेगा, प्रायः वह पितृकुल के शत्रु के हाथ पड़ जाती थी और तब उसको अपने पितृकुल का कोई मोह न रहता था। 'वीसल देवरासो' में विरहिणी रानी ने अपने नारी जन्म को बार बार धिक्कारा है[4], जिस-में पति के साथ चैन से बैठने का भी अवसर नहीं आता। अन्य रत्नों के समान वीरयुग की नारी स्वामी की शोभा भर थी, जिस का भाग्य अन्य रत्नों के समान विषमय तो न था परन्तु जिसका अस्तित्व पति के अस्तित्व का ही एक अंग था। केवल एक बात रहस्यमय है कि सामान्य नारी के प्रति जो भी भावना रही हो, नारी विशेष अर्थात् माता[5], *भगिनी तथा पत्नी के प्रति इस युग म पूजा के ही भाव दिखलाई* पड़ते हैं।

---

१ सब त्रिया बुद्धि नीची गिनत। मानै न सच्च जो कुरि भनत।
(पृ० रा० २१४७)

२ सांप, सिंह, नृप, सुंदरी, जो अपने बस होइ।
तौ पन इन कौ आप मन, करो विसास न कोइ॥
(पृ० रा० २०६४)

सीता ने अग्नि परीक्षा के समय उलाहना दिया था:—
पुरिस-णिहीण होंति गुणवंतिवि। तियहे ण पत्तिज्जंति मरंति वि॥
(स्वयम्भू की रामायण)

३ हू बराकी धणी मोकियउ रोस।
पाव की पाणही सूँ कियउ रोस॥
(वीसल० रासो, ६३)

४ श्री जनम काइं दीयौ हो महेश। अवर जनम थारे घणा हो नरेस॥
रानह न सिरजी हरिणली। सुरह न सिरजी धौणु गाई।
बन-खंड काली कोइली। बइसतो अ ब कइ चंप की डालि॥
(वीसल० रासो, ६५)

५ दस मास उदरि धरि, वले वरस दस, जो इहाँ परिपालै जिवड़ी॥
पूत हेत देखतां पिता प्रति, वधी विसेसै मात वड़ी॥६॥
(वेलि क्रिसन रुकमणी री

विद्यापति और चण्डीदास

विष्णु के दस अवतारों में से जो दो अवतार काव्य के मुख्य प्रेरक बने उनकी दिशाएँ भिन्न-भिन्न थीं। रामावतार का प्रभाव गम्भीर है तो कृष्णावतार का मर्मस्पर्शी। हिन्दी में आने तक तो राम की मर्यादा और कृष्ण की लीला आपस में समझौता करने का प्रयत्न कर रहीं थीं; इसलिए सूर के काव्य का सुखात्मक पक्ष भी उतना ही महत्व-पूर्ण है जितना कि दुःखात्मक पक्ष। परन्तु हिन्दी में आने से पूर्व कृष्ण काव्य में वेदना, टीस या करुणा का ही प्राधान्य है। गौडीय वैष्णव काव्य के आदि कवियों से इस कथन का समर्थन मिल सकता है। गौडीय वैष्णव काव्य के तीन आदि कवि जयदेव, विद्यापति तथा चण्डीदास हैं। जयदेव का "गीत गोविंदम्" संस्कृत भाषा में लोकगीत है, जिसमें पूरी तल्लीनता के साथ राधाकृष्ण की केलि-कथाओं का मनोहर वर्णन किया गया है। विद्यापति ने मैथिली में तथा चण्डीदास ने बँगला में उसी कथा को अधिक सरस बनाने का सफल प्रयत्न किया है। यद्यपि तीनों कवियों का एक ही आधार है और शायद एक ही उद्देश्य, फिर भी उनके व्यक्तित्व ने उन तीनों के दृष्टिकोण में काफी अन्तर ला दिया है।

विद्यापति और चण्डीदास दोनों ही ने शायद स्वाभाविकता के ही लिए संस्कृत के स्थान पर लोक भाषा को अपनाया; दोनों ने ही स्वतन्त्र पद लिखे हैं जिनमें "गीतगोविंदम्" की जैसी नाटकीय छाया नहीं मिलती, और दोनों ही में श्याम की अपेक्षा राधा की भावनाओं का अधिक चित्रण है, फिर भी दोनों का भेद स्पष्ट है। विद्यापति में सुख अधिक है करुणा कम, विलास अधिक है वियोग कम; चण्डीदास में स्वाभाविकता है, गंभीर बनाने वाली वेदना है, समाज की मर्यादा को तोड़ने वाला प्रेम ही चण्डीदासीय राधा की सबसे बड़ी साधना बनकर उसको पूर्णता प्रदान करने में समर्थ है। विद्यापति का प्रेम लोक व्यवहार मात्र है, परन्तु चण्डीदास की प्रीति एक साधना-पथ

है—एक धार्मिक सम्प्रदाय जिसका अवलम्बन करके साधक जन्म-जन्मान्तर के लिये निश्चिन्त हो जाता है।

विद्यापति की राधा मुग्धा नायिका है, उसने श्याम के रूप से आकृष्ट होकर और सखी की बातों में आकर श्याम से गुप्त प्रेम किया, परन्तु नायक 'पिशुन' निकला और उस स्नेह का निर्वाह न कर सका। फलतः राधा जीवन भर अपनी भूल पर पछताती रही। चण्डीदास की राधा पूर्व संस्कारों के कारण श्याम की ओर आकृष्ट हुई किसी ने उसके सामने श्याम का नाम लिया प्रथम बार, उसे ऐसा लगा मानो कानों में अमृत वर्षा हुई हो, वह उसी नाम को जपने लगी और उसके मन में एक ज्वाला सी पैदा हो गई। 'श्याम' नाम कितना मधुर है, एक बार कान में जाकर सीधा मेरे हृदय को स्पर्श करता है और मन को व्याकुल बना देता है—

सइ, के वा शुनाइल श्याम-नाम।
कानेर भितर दिया, मरमे पशिल गो, आकुल करिल मोर प्राण।
ना जाने कतेक मधु, श्याम नामे आछे गो, वदन छाड़िते नाहि पारे।
जपिते जपिते नाम, अवश करिल गो, के मन पाइव, सइ, तारे॥

जिसके नाम में इतना मधु है उसके रूप में कितना आकर्षण होगा और उसके स्पर्श में कितना मोह होगा—इतना अनुमान ही कठिन है। *राधा यही सोचने लगी। जिस व्यक्ति का आज तक न रूप देखा* न जिसके गुणों को सुना उसके नाम मात्र से जब मन की एक विशेष दशा होजाय तो उसमें कारण जन्मान्तर संस्कारों को ही मनाना पड़ेगा चण्डीदासीय राधा की प्रीति इसी प्रकार की है, उसे कुछ-कुछ ऐसा आभास भी मिलने लगा कि इस सामान्य घटना का एक दिन परिपाक कितना दाहक हो सकता है। संभव है शरीर को छूने तक का अवसर न मिले परन्तु घर-बाहर आते-जाते कभी तो श्याम को देखूँगी ही—*आँखें बन्द करके तो नगर में रहा नहीं जा सकता—तब युवती धर्म* कैसे रहेगा, कलंक लगने में कमी भी क्या रह जायगी—

नाम-परतापे जार, एछन करिल गो, अंगेर परशे कि वा हय।
जेखाने वसति तार, नयाने देखिया गो, युवती-धरम कैछे रय॥

विद्यापति की राधा ने श्याम के केवल नाम को कभी नहीं सुना और यदि सुना भी होगा तो उसने कभी उस पर ध्यान नहीं दिया, उसका प्रेम सीधा रूप-दर्शन से ही प्रारंभ होता है। उसने भावी कलंक

की कभी कल्पना भी नहीं की, सोचा यही था कि क्षण भर की वह पर यशता दोनों को स्थायी स्नेहसूत्र में बाँध देगी :—

(क) पुर-बाहर सब करत गतागत के नहि हेरत कान्ह।
तोहर कुसुम-सर कतहुँ न संचर, हमर हृदय पँचवान॥
(ख) तिला एक संगम, जाव जिय नेह॥

यह प्रेम का प्रारंभ था। विद्यापति की राधा केलि-कलावती तथा विलास-विदग्धा है यह अनेक प्रकार से नायक से मिलने लगी, नायक भी संकेत-स्थल पर पहुँचने लगा, यौवन का प्रथम ज्वार था, मन की प्रसुप्त वासनाएँ जग गई, रात-रात भर विलास-मग्न रहने पर भी तृप्ति नहीं होती :—

पहिलुक परिचय, प्रेमक संचय, रजनी आध समाजे।
सरलि कला रस सँभरि न भेले; वैरिनि भेलि मोर लाजे॥

विलास के जितने सुन्दर चित्र विद्यापति में मिलते हैं उनके शतांश भी चण्डीदास में नहीं। श्री सुशीलकुमार चक्रवर्ती के शब्दों में "विद्यापतिर राधा विलासकलामयी ईषदुद्भिन्नयौवना रूपलावण्यवती किशोरीरूपे आमादिगेर निकट उपस्थित", श्री दीनेशचन्द्र सेन के शब्दों में "एइ राधा जयदेवेर राधार न्याय शरीरेर भाग अधिक, हृदयेर भाग अल्प," और कविवर रवीन्द्रनाथ के शब्दों में "विद्यापतिर राधिकार प्रेमे वेदना अपेक्षा विलास बेशी। इहाते गभीरतार अटल स्थैर्य नाइ, केवल नवानुरागेर उद्भ्रान्त लीला ओ चाञ्चल्य। हृदयेर नवीन वासना सकल पाखा मेलिया उड़िते चाय, किन्तु एखनो पथ जाने नाइ।..."

विद्यापति की राधा मुग्धा है, भोली-भाली सरला; परन्तु चण्डीदासीय राधा को इतनी भोली मत समझिए। यह ठीक है कि उसने प्रीति जीवन में पहली बार ही जोड़ी थी, परन्तु वह संसार को देखकर यह जानती है कि प्रीति में कितनी बाधा होती है, उसका निर्वाह कितना कठिन है और उसका अन्त कितना करुण होता है। जिस प्रकार किसी अज्ञात प्रेरणा ने श्याम नाम के प्रति उसके मन में मोह उत्पन्न कर दिया था, उसी प्रकार प्रेम के प्रभात में ही उसके मन में यह आशंका जगी कि न जाने यह प्रेम सफल हो सकेगा भी या नहीं। इस आशंका का कारण न तो अपना कोई कटु अनुभव है और न श्याम के प्रति अविश्वास; यह आशंका संसार की गति का प्रतिबिम्ब मात्र है

परिस्थितियाँ इतनी दारुण बन जाती हैं कि स्निग्ध व्यक्ति को भी निष्करुण बन जाना पड़ता है; अथवा यह आशंका भावी करुणा का संकेत स्थल थी। राधा ने एक दिन अन्तरंग सखी से कहा—

> एइ भय उठे मने, एइ भय उठे।
> ना जानि कानुर प्रेम तिले जनि छुटे॥
> गढ़न भाँगिते, सइ, आछे कत खल।
> भाँगिया गढ़िते पारे से बड़ विरल॥

चण्डीदास के प्रेम की यही विशेषता है कि आन्तरिक प्रेरणा के कारण सब कुछ देखते हुए भी, राधा अपना जीवन करुणा की वेदी पर होम कर देती है—किसी ने उसको बहकाया नहीं, भोली होने के कारण यह गलती नहीं कर बैठी; प्रत्युत उसके अन्तःकरण ने अपनी समग्र चेतना के साथ करुणा-सागर में हँस-हँस कर गोता लगा दिया:—

> सइ. के बले पीरिति भाल।
> हासिते हासिते, पीरिति करिया, काँदिते जनम गेल॥

अन्तःकरण की प्रेरणा से जब हम किसी को प्रेम करने लगते हैं तो चार भिन्न भिन्न परिस्थितियों में हमारी मनोदशा ध्यान देने योग्य होती है—(१) प्रेम-पात्र के प्रति हमारा कथन, (२) प्रेम-पात्र की प्रतिक्रिया, (३) अन्तरंग सहचर के प्रति हमारा पश्चात्ताप कथन, (४ समाज में हमारी चर्चा। प्रेम पात्र को हम आत्म-समर्पण कर देते हैं, सारा दोष अपने सिर ले लेते हैं, और आगामी जीवन में सफल संयोग की कामना करते-करते उसके मन को कष्ट से बचाते हैं। चण्डीदास के जितने पद 'बन्धु' के प्रति कहे गये हैं, वे इसी वर्ग में आवेंगे, इनमें शिकायत नहीं है; प्रत्युत प्रेमपात्र के कुसुम-कोमल मन को तनिक सी भी ठेस न लगे यही विरहदग्धा राधा का प्रयत्न है—

(क) बंधु, कि आर बलिब आमि।
जीवने मरणे जनमे जनमे, प्राणनाथ हइओ तुमि।
तोमार चरणे आमार पराणे, बाँधिल प्रेमेर फाँसि।
सब समर्पिया, एकमन हइया, निश्चय हइलाम दासी।

(ख) बन्धु, सकलि आमार दोष।
ना जानिया यदि, करेछि पीरिति, काहारे करिब रोष।
सुधार समुद्र, समुखे देखिया, खाइलुँ आपन सुखे।
के जाने खाइले, गरल हइबे, पाइब एतेक दुखे॥

(ग) आनेर अनेक आछे आन बँधु, राधार पराण तुमि।

(घ) कलंकी बलिया डाके सब लोके, ताहाते नाहिक दुख।
तोमार लागिया कलंकेर हार, गलाय परिते सुख॥
सती वा असती, तोमाते विदित, भाल मंद नाहि जानि।
कहे चण्डीदास पाप-पुण्य मम, तोमार चरण खानि॥

जब प्रेम-पात्र की प्रतिक्रिया देखिए। हम उसको प्राप्त तो शायद इस जीवन में न कर सकें, परन्तु उसके मुख से इतना अवश्य सुनना चाहते हैं कि "तुमि से आमार, आमि से तोमार", मन की अनन्त ज्वाला अमृत की इसी एक बूँद से शान्त हो जायगी। चण्डीदास की राधा को इससे भी अधिक मिल गया, उसका प्रिय अपने दुःख को तो सुख मानता है और राधा के दुःख से दुःखी है, ऐसी प्रीति सचमुच बड़े सौभाग्य का फल है—

आपनार दुःख, सुख करि माने, आमार दुःखेर दुःखी।
चण्डीदास कय, बँधूर पीरिति, शुनिया जगत सुखी॥

राधा ने कभी-कभी अन्तरंग सखी से अपनी वेदना को कह दिया केवल इस आशा से कि सखी राधा की इस प्रवृत्ति की सराहना करके उसको प्रोत्साहित ही करेगी—

सुखेर लागिया, पीरित करिलुँ, श्याम बन्धुयार सने।
परिणामे एत दुःख हवे बले, कोन अभागिनी जाने।
सइ, पीरिति विषम मानि।
एत सुखे, एत दुःख हवे बले, स्वपने नाहिक जानि।
....
दरशन-आशे, जे जन फिरये, से एत निठुर केन॥

इस प्रकार का पश्चात्ताप विद्यापति में अधिक है, परन्तु वहाँ पश्चात्ताप वास्तविक है, यहाँ सखी से समर्थन पाने की इच्छा से अभिव्यक्त किया गया। चण्डीदास की सखी कितना प्रोत्साहित करती है—

(क) मरम न जाने, धरम बाखाने, एमन आछये जारा।
काज नाइ सखि, तादेर कथाय, बाहिरे रहुन तारा।

(ख) पीरिति लागिया, आपना भुलिया, परेते मिशिते पारे।
परके आपन करिते पारिले, पीरिति मिलये तारे॥

यदि राधा सदा श्याम को क्षमा करती रहती और कलंक का घूंट आँख बन्द करके पी जाती तो हम उसको अपने समान ही सामान्य मानवी न कह सकते, जिस पर पूरा विश्वास है उससे भी तो कभी-कभी खीझ उठती है क्योंकि हम उस पर अधिकार समझकर उससे बहुत कुछ आशा करते हैं। चण्डीदास की राधा श्याम की कठोरता तथा समाज के आक्षेप के बीच उसी प्रकार कुचल गई जिस प्रकार कि सिलबट्टे में धनिये या पोदीने की कोमल पत्तियाँ, तभी तो उसके जीवन से चन्दन जैसा सौरभ फैलने लगा। खीझकर उसने श्याम को शाप दिया किसी अमंगल का आवाहन करते हुए नहीं—जिसको प्यार करते हैं उसके अमंगल की कल्पना भी असह्य है—यह शाप स्निग्धहृदया करुणामूर्ति राधा के कोमल मनोभावों का कितना सावधान परिचायक है! 'जैसी दशा मेरे मन की है, वैसी ही उसके मन की हो' :—

(क) आमार पराण, जेमति करिछे, सेमति हइऊ से।

(ख) कामना करिया सागरे मरिब, साधिब मनेर साधा।
मरिया हइब श्रीनन्देर नन्दन तोमारे करिब राधा॥
पीरिति करिया, छाँड़िया जाइब, रहिब कदम तले।
चंडीदास कय, तखनि जानिबे, पीरिति केमन ज्वाला॥

इस संसार की यही तो सबसे बड़ी विडम्बना है कि जिस धन (धनि = प्रेयसी) की हम कामना करते हैं वह हमको मिल नहीं पाता और संसार में हमारी बदनामी होजाती है :—

जे धन माँगिय, ताहा ना पाइये, अपयश पाछे रय।

राधा और श्याम का मिलन भी हुआ। विद्यापति ने इस संयोग के बड़े ही सुन्दर चित्र बनाये हैं, कलि तथा रति के मनोमोहक चित्रण में सचमुच वे अद्वितीय हैं :—

सुखद सेजोपरि नागर-नागरि बइसल नव रति साधे।
प्रति अंग चुम्बन रति-अनुमोदन, थर-थर काँपय राधे॥

इन चित्रों के अतिरिक्त रूप तथा यौवन के वे चित्र भी इसी उल्लासमय जीवन के सहायक हैं जो मन में विलास की लालसा जगाते हैं, विद्यापति इन चित्रों में भी अद्वितीय हैं :—

(क) चाँद सार लए, मुख घटना करु, लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोय आँचर धनि पोछलि, दस दिसि भेल अँजोरे॥

(ख) आध वदन-ससि बिहसि देखाओलि, आध पीहलि निज बाहू
विछु एक भाग बलाहक झाँपल किछुक गरासल राहू ॥
(ग) कबरी भय चामरि गिरि कंदर, मुख भय चाँद अकासे।
हरिन नयन-भय, सर भय कोकिल, गति भय गज बनवासे ॥
सुन्दरि, किए मोहि सँभासि न जासि।
तुअ डर इह सब दूरहि पलायल, तुहूँ पुन काहि डरासि ॥

इस क्षेत्र में चण्डीदास की विद्यापति से कोई तुलना नहीं। क्योंकि कविवर रवीन्द्र के शब्दों में, "विद्यापति सुखेर कवि, चण्डीदास दु:खेर कवि। विद्यापति विरहे कातर हइया पड़ेन, चण्डीदासेर मिलनेउ सुख नाइ। ' .... विद्यापति भोग करिवार कवि, चण्डीदास सह्य करिवार कवि"। चण्डीदास में मिलन है परन्तु सयोग नहीं—सभोग नहीं। सभोग से प्रेम की पवित्रता और दिव्यता नष्ट हो जाती है प्रेम मानसिक घनिष्ठता का ही नाम है जिसके लिए शारीरिक सम्पर्क अनिवार्य नहीं और क्योंकि शारीरिक सम्पर्क सांसारिक वस्तु है इसलिए इसका विधान सामाजिक नियमों से संघटित होना चाहिये। मानसिक घनिष्ठता और सामाजिक नियमों में जब परस्पर विरोध आ जावे तब दोनों में सामञ्जस्य स्थापित कर लेना पड़ता है; प्रेम का निर्वाह पारस्परिक मनोयोग से हो सकता है और सामाजिक नियमों का निर्वाह एक दूसरे के शरीर को न छूने की प्रतिज्ञा से। विद्यापति इस बात को सोच भी न सकते थे, परन्तु चण्डीदास का यही आदर्श है। यह ठीक है कि हृदय की ज्वाला उस समय तक शान्त नहीं हो सकती जब तक कि दोनों हृदय बाच के सारे विघ्नों को दूर करके, एक दूसरे से चिपक न जावें, परन्तु क्या ज्वाला का शान्त होना आवश्यक है? ज्वाला ही तो प्रेम का प्राण है, ज्वाला शान्त होते ही प्रेम निर्जीव हो जाता है और ज्यों-ज्यों ज्वाला बढ़ती जाती है त्यों-त्यों प्रेम अमर होता जाता है—

(क) जार जत ज्वाला तार तत्त पिरीति ॥
(ख) सदा ज्वाला जार, तबे से ताहार मिलये पिरीति धन ॥
(ग) अधिक ज्वाला जार, तार अधिक पिरीति ॥

इसलिए चण्डीदास के प्रेम का आदर्श अत्यन्त महान् है। जिस प्रकार कमलपत्र जल के बिना सूखकर मुर्झा जाता है परन्तु जल में रहकर भी जल का स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार जल के स्पर्श के बिना

ही स्नान करने वाला व्यक्ति, प्रेमपात्र के सदा ~~निकट रहकर भी उसके~~ शरीर को हाथ तक न लगाने वाला प्रेमी ही प्रेम की दिव्यता का अनुभव करता है —

(क) सिनान कारवि, नार ना छुइवि, भाविनी भावेर देहा ॥
(ख) एकत्र थाकिब, नाहिं परशिब, भाविनी भावेर देहा ॥

अब जो राधा औ श्याम क्षण भर भी वियोग सहन नहीं करते उनके मिलन को देखकर आपको आश्चर्य होगा, मिलते ही वे एक दूसरे से लिपट नहीं जाते प्रत्युत एक दूसरे के सामने परन्तु एक दूसरे से कुछ दूर पर बैठ जाते हैं और आँखों से अश्रु बहाने लगते हैं ! कितनी परवशता है। समाज की आँखों में हमारा यह दिव्य प्रेम भी खटकता है और इसीलिए हमारा यह मिलन कितना अल्प-कालीन है, कितना अनिश्चित है !! न जाने कौनसा अभागा क्षण हमको सदा के लिए एक दूसरे से अलग कर सकता है। नेवाज कवि की सखी ने राधा को यही सीख दी कि जब कलंक तो लग गया तब पवित्रता के सिर पर तड़पते रहना कोई बुद्धिमानी नहीं है, अब निश्शंक आलिंगन करके इसकी ज्वाला को भी विराम का अवसर देना चाहिए —

कौन संकोच रह्यो है नेवाज जो तू तरसै उनहूँ तरसावति ।
बावरि जो पै कलंक लग्यो तब क्यों न निसंक ह्वै अङ्क लगावति ॥

इसीलिए चण्डीदास का प्रेम अपूर्व है, अद्वितीय है, समाज या प्रकृति में कहीं भी उसकी तुलना नहीं मिलती, यह दो प्राणों का अटूट बन्धन है, जहाँ भावी विच्छेद की आशंका के ही कारण वर्त्तमान उपलब्ध संयोग का उपभोग वर्जित है :—

एमन पीरिति कभु नाहि देखि शुनि ।
पराणे पराण बाँधा आपना-आपनि ॥
दुहूँ कोड़े दुहूँ काँदे विच्छेद भाविया ।
आध तिल ना देखिले जाय जे मरिया ॥
जल बिनु मीन जेन कबहूँ न जीये ।
मानुषे एमन प्रेम कोथा ना शुनिये ॥
भानु कमल बलि—सेहो हेन नय ।
हिमे कमल मरे, भानु सुखे रय ॥

चातके जलद कहि—से नेह तुलना।
समय नहिले से ना देय एक कणा॥
कुसुमे मधुप कहि—सेहो नहे तूल।
ना आइले भ्रमर आपनि ना जाय फूल॥
कि छार चकोर चाँद—दुहुँ सम नहे।
त्रिभुवने हेन नाहि चण्डीदास कहे॥

प्रेम-विह्वला राधा प्रीतियोगिनी है, अपने प्रिय को प्राप्त करने के लिए उसने प्रीति का ही एक संसार बसा लिया[1] और उस बन्धु के लिए वह पागलिनी योगिनी बनकर वन-वन में घूमती फिरी, प्रीति का ही उसने मंत्र जप और साधना प्रारंभ कर दी। लोग हँसते हैं, हँसते रहें, जाति-कुल जाता हो, तो चला जावे, परन्तु बन्धु मिल सके। तुमको प्राप्त करके हम सब कुछ फिर से बना सकते हैं, समाज में प्रतिष्ठा भी फिर हो जावेगी, पराये भी फिर अपने हो जावेंगे, फिर अगर तुम्हीं न रहे तो समाज, और सुख-वैभव से क्या लाभ :—

लोक हासि हउ, जाय जाति जाउ, तबुना छाड़िया दिव।
तुमि गेले यदि, शुन गुणनिधि, आर कोथा तुया पाव॥

निर्मम समाज से तंग आकर एक बार राधा ने सोचा कि 'बाहिरे अनल' और 'अन्तर ताप' से कब तक झुलसती रहूँ इस असफल जीवन से किसी प्रकार तो निस्तार मिले। वह समाज के ठेकेदारों पर बरस पड़ी—तुम लोग अपने-अपने घर जाओ, आज से राधा के कलंक की चर्चा न हुआ करेगी, मैं यमुना के किनारे आग में जल मरती हूँ:—

तोमरा चलिया जाउ आपनार घरे।
मरिब अनले आमि यमुनार तीरे॥

परन्तु तत्काल ही उसके अन्तःकरण ने उसको सावधान कर दिया, यदि शरीर ही छोड़ दिया तो प्रीति की साधना किस प्रकार होगी :—

चंडीदास बले केन वह हेन कथा।
शरीर छाँड़िले प्रीति रहिवेक कोथा॥

चण्डीदास में प्रीति के दो पक्ष हैं—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल या सामाजिक पक्ष में राधा की प्रीति संस्कारजन्य उस स्नेह का नाम

---

1 पीरिति नगरे बसति करिव, पिरीते बाँधिव घर।
पीरिति देखिया पड़शि करिव, ता' बिनु सकलि पर॥

है जो अनेक बाधा, विरोधों और तिरस्कारों को सहता हुआ भी सदर्प आत्मसमर्पण कर देता है। राधा और श्याम दोनों के मर्म में समान ज्वाला है, फिर भी राधा में करुणा अधिक है—नारी प्रीति कम ही करती है परन्तु यदि करने लगती है तो फिर अपने को सम्हालना उसके लिए संभव नहीं, पुरुष प्राय. फिसल जाता है परन्तु एक बार प्रवंचित होकर वह चुपचाप उस मार्ग से हट जाता है; साहित्य और समाज में इसीलिए शिकायत सदा नारी ने ही की है पुरुष ने सब कुछ चुपचाप सहा है—वह जानता है कि उसके प्रति न तो प्रतिद्वन्द्वी पुरुष को सहानुभूति होगी और न जातिभक्त नारी को। चण्डीदास की राधा ने भी श्याम के प्रेम को पीतल[1] और श्याम को विषकुम्भम्[2] पयोमुखम् कह दिया है, परन्तु वह सामान्य नारी से बहुत ऊँचा है इसलिए उसने दोष किसी अज्ञात शक्ति को अधिक दिया है अपने बन्धु को कम—अपने प्राणबन्धु से तो वह अपने कुवचन के लिए क्षमा[3] भी माँग लेती है। इस प्रीति का वियोग पक्ष जितना शान्त है, संयोग पक्ष भी उतना ही सन्तोषप्रद। बड़े भाग्य[4] का फल है कि श्याम जैसा स्नेही बन्धु राधा को मिला, आशंकाओं के बीच भी दोनों सुखी हैं और सुख के बीच भी आशंकित; राधा श्याम का परस्पर समर्पण अपूर्व है—राधा को अपने शरीर की सुधि नहीं, श्याम का ही ध्यान है, श्याम अपने दुःख को तो सुख ही समझते हैं राधा के दुःख से दुःखी हैं; आज भी दम्पति-जीवन में या प्रेम व्यवहार में इस प्रकार का दृष्टिकोण सामाजिक सुख की अपूर्व निधि बन सकता है। कुछ लोग शायद इस दृष्टिकोण को अतिभावुकता कहना चाहेंगे, कहते रहें, जिस व्यक्ति का इतना विकास नहीं हुआ वह तो ऐसा सोचेगा ही। रहा दु.ख और सुख का प्रश्न, वह प्रेम की कसौटी नहीं है—जिस कार्य से सामाजिक सुख मिले केवल वही धर्म या पुण्य नहीं है, धर्म का फल तो अन्तःकरण का सन्तोष है और सुख बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर होता है। इसलिए प्रायः पवित्र प्रेम की सघनता में दुःख

---

१ सोना जे नहिल पितल हइल, एमति कानुर लेह।

२ सोनार गगारी जेन विष भरि, दुधेते भरिया मुख।

३ बन्धुया जनेर, दोष ना लइबे, लिखे कत हये दोष।
तुमि दया करि, कृपा ना छाड़िह, मोरे का करिह रोष॥

४ सइ कि आर बलिब तोरे।
अनेक पुण्यफले से हेन बँधुया, आसिया मिलल मोरे॥

की छाई भी लिपटी चली आती है, प्रेमी सुख के लिए कभी प्रेम न करे और दुःख से त्रस्त होकर इस दिव्य पथ से पलायन भी न करे :—

कहे चण्डीदास शुन विनोदिनी, सुख दुख दुटि भाइ।
सुखेर लागिया, जे करे पिरीति, दुख जाय तार ठाँइ॥

सचमुच प्रेम 'विछु विछु सुधा, विषगुला आधा" है, प्रारंभ में इससे हृदय को बड़ी शीतलता मिलती है परन्तु धीरे धीरे ज्वाला दहकने लगती है। यह प्रीति का सूक्ष्म व आध्यात्मिक पक्ष है, जो चण्डीदास की अपनी विशेषता है प्रीति की अग्नि में तपकर प्रेमी निखर आता है—जन्म-जन्मान्तर का मन का मैल जलकर स्वाहा हो जाता है। आत्मशुद्धि के दूसरे साधन भी हैं, ज्ञानमार्ग धरम है, कर्मकाण्ड (करम) है और उपासना (चरचा) है परन्तु जो प्रीति मार्ग को है व सहज, उसके लिये ये गलियाँ तुच्छ हैं, इस मार्ग की विशेषता को वही जान सकता है जिसके मर्मस्थल में 'पिरीति' के ये ३ अक्षर अङ्कित हो चुके हैं :—

धरम-करम, लोक-चरचाते, ए कथा बूझिते नारे।
ए तिन आँखर, जाहार मरमे,-सेइ से बूझिते पारे।

भक्ति का पथ बड़ा सुगम बतलाया गया है परन्तु यह भी उतना सहज नहीं है, 'अबला बाला'[1] भक्ति के गम्भीर रहस्य को भी क्या समझे उसके अन्तःकरण में जो बस गया है वही उसका देवता है, यह उस देवता के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पित करके अपने आपको प्रीति की ज्वाला में जलाती रहती है। यही चण्डीदासीय सहज प्रेम साधना है। सूफी-साधना से यह साधना अधिक सूक्ष्म, अधिक गम्भीर और अधिक परिष्कृत है। सूफी ईश्वर का ही रूप समझकर संसार का उपभोग करता है परन्तु प्रीति-साधना में उपभोग के लिए कोई स्थान नहीं, सूफी का प्रिय ईश्वर की झलक है परन्तु प्रीतिसाधक का प्रिय उसी के समान है, "ना हइवि सती, ना हवि असति"। इसलिए इस प्रेम का सामाजिक पक्ष भी है और आध्यात्मिक भी। यह प्रेम-साधना प्रिय को देवता और देवता को प्रिय बनाकर भी दोनों के व्यक्तित्वों को सुरक्षित रखती है, इसीलिए यह सहज है, सर्वसुलभ है। इसके लिए एक ही शर्त है मर्मस्थल पर 'पीरिति' के तीन अक्षरों को जन्म जन्मान्तर के लिए अङ्कित करा

[1] तोमार पीरिति, कि जानि भकति अबला कुलेर बाला।

लेना—यह भी प्रयत्नसाध्य नहीं संस्कारसाध्य है। कविवर रवीन्द्र ने वैष्णव काव्य के विषय में विचार करते हुए प्रिय और उपास्य के सामञ्जस्य का विशेष आग्रह किया है:—

> देवतारे याहा दिते पारि, दिइ ताइ
> प्रियजने,—प्रियजने याहा दिते पाइ
> ताइ दिइ देवतारे; आर पाबो कोथा?
> देवतारे प्रिय करि, प्रियेरे देवता॥

कबीर का जीवन-चरित

I

> फूला फूला फिरै जगत में कैसा नाता रे।
> मात कहै यह पुत्र हमारा, बहिन कहै बिर मेरा।
> कहै भाइ यह भुजा हमारी, नारि कहै नर मेरा।
> पेट पकरि कै माता रोवै, बाँह पकरि कै माई।
> लपटि-भपटि कै तिरिया रोवै, हंस अकेला जाई।

काशी की गलियों में एक साधु गाता हुआ चला जा रहा था, उसका वेश मामूली था; सिर पर कपड़े की उलटी टोपी, लम्बी दाढ़ी घुटनों तक का कुर्ता और हाथ में एक सारंगी। पथिक उसके गीत को सुनते और तन्मयता से गुनगुनाते हुए आगे बढ़ जाते। नगर की अट्टालिकाओं में सान्द्र संगीत की मधुर ध्वनि उठ रही थी, कोकिल-कंठ और यौवन के निरभ्र उल्लास से चमचमाती हुई। बाजार में नया रंग था, अल्हड़ता पर सचित कोष को मुक्तहस्त से बिखेर देने वाला। गृहिणी घर से बाहर निकलती और साधु को देखकर किवाड़ बन्द कर लेती। रात्रि होने लगी परन्तु साधु को किसी ने हाथ बढ़ाकर भिक्षा न डाली। उसकी आँखें चमकने लगीं, आकाश की ओर देखकर उसने एक ठंडी साँस ली—

> राम झरोखे बैठकर, सबका मुजरा लेइ।
> जैसा जाकी चाकरी, तैसा ताको देय॥

सारंगी पर फिर हाथ जमा, तन्न, तन्न, ताँ, स्वर में फिर प्रवाह आगया और साधु नया गीत गाने लगा—

डर लागै औ हाँसी आवै, अजब जमाना आया रे।
धन-दौलत ले माल खजाना, वेश्या नाच नचाया रे।
मुट्ठी अन्न साधु कोइ माँगै, कहै नाज नहिं आया रे।
कथा होइ तहँ स्रोता सोवैं, वक्ता मूँड पचाया रे।
उलटी चलन चली दुनिया में, तातें जिय घबराया रे।

सचमुच उसका मन घबरा उठा था, धर्म के इस केन्द्र काशी में कलियुग का ऐसा व्यापक प्रभाव! लोग न जाने किस गर्व में डूबे हुए संसार की असारता को भूले रहते हैं इनको उस दिन का ध्यान भी नहीं जब कि चार भाई मिलकर श्मशान को ले चलेंगे।[१] ये उच्चकुल के अभिमानी धनी युवक कितनी शान से अकड़कर चलते हैं; इनका किस प्रकार उद्धार हो सकेगा—

ऐंठी धोती, पाग लपेटी, तेल चुआ जुलफन में।
गली गली की सखी रिझाई, दाग लगाया तन में।
पाथर की इक नाव बनाई उतरा चाहै छन में।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, ये क्या चढ़ि है रन में।

और कहते यह हैं कि काशी धर्म का सनातन केन्द्र है, यहाँ शरीर छोड़ने पर अनायास ही मोक्ष प्राप्त हो जाती है!! कहाँ नरक का द्वार मगहर और कहाँ धर्म का केन्द्र काशी!! एक में शूद्रों की झोपड़ियाँ दूसरे में ब्राह्मणों की अट्टालिकाएँ!! एक में गरीबी का निवास, दूसरे में विलास का संचय!! कबीर का गुजारा इस काशी में नहीं हो सकता हमको मगहर ही चलना पड़ेगा, जहाँ पंडितों का, ब्राह्मणों का, धनियों का आतंक न हो—

को अब अनख सहै प्रति दिन को, नाहिन रहन हमारा।

अस्तु, 'सकल जनम शिवपुरी' में विताने के बाद महात्मा कबीर अपने जीवन के अन्तिम कर्त्तव्य धर्म प्रचार के लिए मगहर चले गये।

II

जिन उपदेशों की काशी में कोई पूछ न हुई उनको मगहर में भी अनसुना कर दिया गया। शूद्र भी तो यही समझते हैं कि ब्राह्मण उनसे ऊँचे हैं और वेद में पवित्र ज्ञान भरा हुआ है, हिन्दू और

---

१ वा दिन की कछु सुधकर मन माँ।
जा दिन से चलु से चलु होई, वा दिन संग चले नहिं कोई।

तुरुक कोई भी तो उनकी बात नहीं सुनता, सभी इन्द्रियों के दास बने हुए हैं।[1] मगहर आकर कबीर ने अपना उपदेश सुनाया—

जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोय तू फूल।
तो को फूल के फूल हैं, वा को हैं तिरसूल॥

परन्तु बढ़ई और लुहार, धोबी और रँगरेज उनकी बातों पर हँसते हुए चले गये। इनको उपदेश का अधिकार ही क्या है? क्या ये ब्राह्मण हैं जो हमको उपदेश देने चले हैं? ब्राह्मण जाति का एक शाक्त, लोहार की दुकान पर तलवार मोल लेने आया था उसने चुटकी लेते हुए साधु की मद उड़वाने के लिए उससे बनावटी श्रद्धा के साथ पूछा—"आपके उपदेश तो बड़े मधुर हैं, महाराज, आप ब्राह्मण जान पड़ते हैं?" कबीर के हृदय पर व्यंग्य चोट कर गया, वे ब्राह्मण के नाम से ही मर्माहत होते थे और यह प्रश्न उनसे क्या पूछा गया था यह भी वे जानते थे। उनका अपना ही उपदेश इस समय यदि न रहा और काँटे का उत्तर पत्थर से देते हुए बोले—

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान॥

शाक्त का मुँह की खानी पड़ी, फिर भी वह कच्ची गोलियाँ खेला हुआ न था, उसने सन्तोष की बनावटी हँसी हँस कर कहा—"ठीक है, महाराज, जाति तो सब की एक है और सच पूछा जाय तो शूद्र ही ब्राह्मण से ऊँचे हैं क्योंकि वे सदा विधि-निषेध से स्वतन्त्र सहज सुख का भोग करते हैं, साधु ज्ञानवान् हो, महाराज ने भी तो वेद-शास्त्र का अध्ययन किया ही होगा?" कबीर को फिर पराजित होना पड़ा, वे ज्ञान को महान् बता रहे थे, अब ज्ञान पर भी आक्रमण होने लगा, तो वे रंग बदल कर बोले—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित हुआ न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय॥

शाक्त जानता था कि आचार-विचार में यह साधु पूरा है, इसलिए उस विषय का प्रश्न करना साधु के पक्ष में जायगा। उसने फिर चतुराई से पूछा—"तो आप लोक और वेद में विश्वास न रखते होंगे महाराज, यह तो ब्राह्मणों का ढकोसला है?" कबीर पहली बार मुसकराये और नम्रता से बोले—

---

१ हिन्दू-तुरक कहाँ नहिं मानी, स्वाद सबनि को ईठा।

पीछैं लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगे थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि॥

शास्त्र ने फिर झटका दिया—"आपके गुरु कौन हैं, वे किस मठ के महन्त हैं, और उनकी शिष्य-मंडली कहाँ रहती है ?" कबीर फिर तेज हो गये, 'इस दुष्ट ने तो मुझको सब की आँखों में गिराने का निश्चय कर लिया है'; उन्होंने उत्तर दिया और आगे बढ़ गये दिखावटी प्रेम में झूमते हुए :—

गुरु गोविंद तो एक हैं, दूजा यहु आकार।
आपा मेटि जीवत मरै, तो पावै करतार॥
सिंहों के लेहँडे नहीं, हंसों की नहिं पाँत।
लालों की नहिं बोरियाँ, साध न चलैं जमात॥

दूर से उनकी 'बानी' सुनाई दे रही थी :—

मूरख को समझावते, ज्ञान गाँठि का जाय।
कोइला होय न ऊजरी, नौ मन साबुन लाय॥

उस दिन से कबीर ने एक बात नई सीखी :—

कहते को कहि जान दे, गुरु की सीख तु लेइ।
साकट जन औ स्वान को, फिर जवाब मत देइ॥

और उन्होंने वाणी पर संयम का अभ्यास किया[1], मन से घृणा होते हुए भी आचार की दृष्टि से वे वैष्णवों को अपना मित्र समझने लगे[2], और शूद्रों में उन्होंने यह प्रचार किया कि यद्यपि वे इस जन्म में जुलाहे हैं परन्तु पूर्वजन्म में निश्चय ही ब्राह्मण थे तथा संसार का उद्धार करने के लिए उनका अवतार हुआ है :—

पूरब जनम हम बांह्मन होते, बोछै करम तप हीना।
रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हा॥
समरथ का परवाना लाए। हंस उबारन आए॥

III

कबीर ने बहुत प्रयत्न किया कि मगहर के शूद्रों को सुधारें परन्तु उनका अनुमान गलत था—काशी निवासी उच्च कुल के धनाढ्य

---

१ सबद सम्हारे बोलिये, सबद के हाथ न पाँव।
एक सबद औषधि करै, एक सबद करै घाव॥

२ साकत बाम्हन ना भला, बैस्नौ भला चँडाल।
अंकमाल दै भेंटिये, मानो मिले गोपाल॥

ही विलास में लिप्त नहीं हैं नगरवासी नीच जाति के लोग भी उसी इन्द्रियसुख में डूबे हुए हैं और इसी कारण शाक्तों का प्रभाव उन पर अधिक पड़ता है। कबीर ने शाक्तों की कुछ बातें सुनीं तो उनको पता लगा कि उनका ज्ञान शिश्नोदर तक ही है और निषिद्ध यौन-सम्बन्ध की बातों द्वारा वे जनता को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। अस्तु, कबीर की सारंगी से एक नया स्वर निकलने लगा :—

(क) ये अँखियाँ अलसानी, पिय हो सेज चलो।
खंभा पकरि पतंग अस डोलै, बोलै मधुरी बानी।
फूलन सेज बिछाइ जो राखी, पिया बिना कुम्हलानी।
धीरे पाँव धरो पलँगा पर जागत ननद जिठानी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लोक लाज बिछलानी॥

(ख) सखो अचरज एक भौ भारी, पुत्र धइल महतारी।
पिता के संगे भई बावरी, कन्या रहल कुमारी।
खसमहिं छाँड़ि ससुर सँग गौनी, सो किन लेहु विचारी॥

कबीर की इन अटपटी बातों का दिन-दिन प्रचार बढ़ने लगा। फिर भी लोग पण्डितों की बातों से खिंच जाते थे। एक दिन कबीर ने चाल चली, अपने कुछ श्रोताओं को ये बातें सुनाईं और उनसे कहा कि पण्डितों से उनका अर्थ पूछें :—

(क) मेंढक सर्प रहे एक संगें, बिल्ली स्वान बियाही।
(ख) बैल बियाइ, गाइ गइ बाँझ, बछरा दूहे तीं यूँ साँझ।
(ग) हम बहनोई, राम मोर सारा। हमहिं बाप, हरि पुत्र हमारा।

पण्डितों का दम सूख गया—यह पागलपन है, इसका भी क्या अर्थ हो सकता है? जब भक्त लौटकर कबीर के पास आया तो कबीर ने उन अटपटी बातों में ही गहरा ज्ञान दिखा दिया और साथ ही बोले :—

बैठा पंडित पढ़ै पुरान, बिनु देखे का करै बखान।
कहहिं कबीर जो पद को जान, सोई संत सदा परमान॥

अब कबीर अवतारी पुरुष थे। लोग उनके शिष्य बनने लगे। *सामान्य जनता में उनका विरोध अब न था।*

IV

सामान्य लोगों के गुरु बनकर कबीर ने सबसे पहले ब्राह्मणों से मोरचा लिया, जब तक लोगों के मन से यह भावना नहीं निकलती

कि ब्राह्मण जन्म से ही दूसरों से ऊँचा है तब तक संसार का उद्धार नहीं हो सकता, और प्रचार को ब्राह्मण-विरोधी उपदेश देना था अपने शिष्यों में। वे जन्मजात उच्चता पर चोट करते हुए बोले :—

जो ब्राह्मन तुम ब्राह्मनी जाये।
और मारग काहे नहिं आये॥

ब्राह्मण के बहकाने पर जब लोग मूर्ति पूजते ही मिले तो सतजी ने एक दिन बड़े मनोविनोद से पूछा—"सुना है, भाइ, कि पत्थर पूजने से ईश्वर मिल जाता है; अगर यह सच है तो आज से हम भी बड़ा-सा पत्थर पूजा करेंगे—हम पहाड़ को पूजेंगे, जिससे भगवान् जल्दी ही मिल सकें" :—

पाहन पूजैं, हरि मिलैं, तो मैं पूजूँ पहाड़।

लोग सचमुच बड़े शरमाये, उन्होंने यह तो कभी सोचा ही न था। तब कबीर की बन आई, उनको फटकारते हुए बोले :—

दुनिया ऐसी बावरी, पत्थर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जेहि का पीसा खाइ॥

कबीर के प्रचार का एक दुष्परिणाम भी हुआ, लोग वैष्णव सन्तों में श्रद्धा रखने लगे, पर कबीर का उद्देश्य यह न था, और अगर वे समझायें भी तो कैसे समझायें कि उनके अतिरिक्त सारे साधु झूठे हैं। उनको एक युक्ति सूझी साधुओं की सभी बातों का खंडन करने लगे—उनका वेष, उनका ध्यान, उनका आचार सब कुछ कपट है—इन उपकरणों से कोई साधु नहीं बन जाता :—

तन को जोगी सब करै, मन को बिरला कोय॥
हम तो जोगी मनहि के, तन के हैं ते और॥
मूँड मुड़ाए हरि मिलैं, सब कोइ लेइ मुड़ाय॥
नेमी देखे, धरमी देखे, प्रात करहिं असनाना।
आतम मारि पखानहि पूजै उनमें कछू न ज्ञाना॥
आसन मारि डिंभ धरि बैठे मन में बहुत गुमाना।
पीतर पाथर पूजन लागे तीरथ गरब भुलाना।
माला पहिरे, टोपी दीन्हे छाप तिलक अनुमाना।
साखी सबदै गावत भूले, आतम खबरि न जाना॥

तब शिष्यों ने एक दिन पूछा—"गुरुदेव, सन्त की फिर पहिचान क्या है, साधु में कौनसे गुण होने चाहिये ?" सतगुरु ने साफ उत्तर

दिया—"साधु की पहिचान तुम्हारे बस का काम नहीं है, इसको सतगुरु ही कर सकता है। और साधु में अच्छी अच्छी बातें सब हों; बुराई एक भी न हो।"

> साध कहावन कठिन है, लम्बा पेड़ खजूर।
> चढ़ै तो चाखै प्रेमरस, गिरै तो चकनाचूर॥
> कोइ साधु जन पारखी, बिरला तत्त विचारि।
> साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
> सार सार को गहि रहे, थोथा देइ उड़ाय॥
> जैसा ढूँढ़त मैं फिरौ, तैसा मिला न कोय।
> ततवेता तिरगुन रहित, निरगुन से रत होय॥

V

मुसलमानों ने समझा कि वेद और ब्राह्मण का निंदक यह साधु उनका बड़ा सहायक होगा। परन्तु यह उनकी भूल थी। कबीर ब्राह्मण-विरोधी इसलिए थे कि समाज में ब्राह्मणों का प्रभाव था। जब मुसलमान इनके शिष्यों को बहकाने लगे तो कबीर ने अपने उपदेश का रूप बदल दिया—

> अरे इन दोउन राह न पाई।
> हिन्दू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देई।
> बेस्या के पायन तर सोवै, यह देखो हिन्दुआई।
> मुसलमान के पीर औलिया मुरगी मुरगा खाई।
> खाला केरी बेटी ब्याहैं घरहि में करैं सगाई॥

परन्तु इतना ही काफी नहीं था हिन्दुओं की जिन बातों का कबीर ने खंडन किया था, उन्हीं का खण्डन मुसलमान भी करते थे, फलत अप्रत्यक्ष रूप से उनका प्रचार होता था। अत, अब कबीर दोनों का साथ-साथ खण्डन करने लगे—

> हिंदू बरत एकादसि साधैं, दूध सिंघाड़ा सेवी।
> × × × ×
> रोजा तुरुक नमाज गुजारैं बिसमिल बाँग पुकारैं।
> हिन्दू दया मेहर को तुरुकन दोनों घट सों त्यागी।
> वै हलाल वै झटका मारैं आगि दुनों घर लागी॥

और फिर मुल्लाओं की हठधर्मी पर भी कबीर ने निर्मम प्रहार किये—"जिस प्रकार कूड़े-करकट के ढेर पर चढ़कर अपने को ऊँचा समझते

वाला कुक्कुट सारे संसार को जगाने का दम भरता हुआ बड़े ज़ोर से बाँग देता है, उसी प्रकार कंकर पत्थर से बनी मसजिद पर चढ़कर अहंकारी मुल्ला अजां की आवाज लगाता है—इस अजां में ईश्वर के प्रति ध्यान नहीं है क्योंकि ईश्वर के लिए चिल्लाकर कहने की क्या आवश्यकता है'—

> काँकर पाथर जोरि कैं, मसजिद लई चिनाय।
> ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय।

इतना ही नहीं, कबीर ने व्यंग्यात्मक ढंग से अपने शिष्यों के मुसलमान बनने का विरोध किया—

> सुनत कराय तुरक जो होना, औरत को का कहिए।
> अर्ध सरीरी नारि बखाने, तातैं हिन्दू रहिए॥

VI

मगहर में अपना प्रभुत्व जमाकर कबीर फिर एक बार काशी में आये, इस समय तक वे सब का खंडन कर चुके थे—सब की खिल्ली उड़ा चुके थे—उनके शिष्यों की संख्या भी काफी थी ही। परन्तु धर्म की दिग्विजय उस समय तक पूरी नहीं समझी जाती जब तक कि काशी में उसका एक स्थायी अखाड़ा न खुल जावे। अस्तु, कबीर की शिष्य-मण्डली काशी के एक कोने पर बस गई, मणिकर्णिका घाट से अलग, विश्वनाथ के मंदिर से दिगन्तर में, शैवों और वैष्णवों की बस्तियों से दूर—यह स्थान कबीर-चौरा कहलाया। यहाँ आकर कबीर ने अपने मत की प्रतिष्ठा की—खण्डन के स्थान पर मंडन पर ध्यान जमाया। अब उनको फिर वैष्णव मत की शरण लेनी पड़ी, वेदान्त की शब्दावली अपनानी पड़ी और हिन्दुओं के विश्वास पचाने पड़े। जब कोई पूछता कि आपका मत क्या है, आप किस नाम के स्मरण की प्रतिष्ठा करते हैं, दूसरे ऋषियों तथा आप में क्या अन्तर है तो संत जी इस प्रकार उत्तर देते—

> निरगुन, सरगुन तें परे, तहाँ हमारो ध्यान॥
> कोई ध्यावे निराकार को, कोइ ध्यावै साकारा।
> वह तो इन दोऊ ते न्यारा, जानै जाननहारा॥
> केते रामचन्द्र तपसी से जिन जग यह बिरमाया।
> केते कान्ह भये मुरलीधर तिन भी अंत न पाया॥

कबीर ने वेदान्त के प्रभाव में आकर सबसे अधिक ध्यान माया

पर दिया, जिसका विरोध करना हो उसी को माया का खेल बतला दो। माया इतनी प्रबल है कि कबीर को छोड़कर सभी इसके फेर में पड़ चुके हैं और कबीर भी अपने बल पर इससे नहीं बचे बल्कि 'साहिब-दया'[1] से उनका उद्धार हो सका है। माया के दो रूप कनक तथा कामिनी हैं, कनक से तो केवल भक्ति में बाधा आती है परन्तु कामिनी तो साक्षात् नागिनी है[2], यह पुरुष के साथ हँस-खेल कर ही उसका सर्वनाश कर देती है[3]। यह शास्त्र ज्ञान नहीं, कबीर का साक्षात् अनुभव है, उन्होंने विवाह किया था परन्तु नारी की वास्तविकता को जानकर वे उसको त्याग बैठे—

नारी तो हम भी करी, जाना नहीं विचार।
जब जाना तब परिहरी, नारी बड़ा विकार॥

किसी चीज का मूल्य अधिक हो, इसके लिये यह आवश्यक है कि उसकी प्राप्ति में प्राणों तक की बाजी लगा दी गई हो। कबीर को जो अमूल्य रत्न मिल गया था उसके लिये उनको संसार का विरोध तो बहुत करना और सहना पड़ा, परन्तु आत्म ज्ञान के लिये वे खाक न छानते फिरे थे। फिर भी वे संसार को अपने ज्ञान की अमूल्यता बतलाना चाहते थे; इसलिये उन्होंने जनता में यह प्रचार किया कि अनेक ऋषि-मुनि गिरि-गह्वरों पर वर्षों तक भटक कर उनको यह ज्ञान प्राप्त हुआ है, वे विरहिणी के समान उस प्रिय के दीदार को तरसते रहे हैं—

परबत परबत मैं फिरा, नयन गँवाये रोय।
सो बूटी पाऊँ नहीं जाथैं जीवन होय॥
कै बिरहिनि को मीचु दै, कै आपा दिखराय।
आठ पहर का दाझणां, मो पै सहा न जाय॥

कभी वे योग की शब्दावली में बात करते, कभी वेदान्त की में! कभी हिन्दू बन जाते, कभी मुसलमान। उनको एक ही बात कहनी थी कि और सबने तो सत्य का एक ही अंश देखा है, मैं ईश्वर की विशेष कृपा से उस तत्व अनूप को प्राप्त कर सका हूँ।

---

१ हम तो बचिगे साहिब दया सों, सबद डोर गहि उतरे पार।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, या ठगिनी सें रहु हुसियार॥

२ नागिन के पैदा किया, नागिन डस खाया।

३ छोटी-मोटी कामिनी, सब ही विष की बेलि।
बैरी मारै दाव परि, यह मारै हँसि खेलि॥

VII

कबीर देश के सभी भागों में घूमने लगे, प्राय उनके शिष्य ही इधर उधर चले जाते और अपने को कबीर बता कर दूसरों की खिल्ली उड़ा दिया करते थे। जनता की बदलती बोलियों में नये-नये कबीर अपना संदेश सुनाने लग गये। कबीर को कोई पहिचानता न था परन्तु उनके नाम का लोहा सब मानते थे। कबीर को भगवान् का अवतार माना गया, उनके वचनों को तर्क से ऊपर की बात समझा गया और बिना सोचे समझे दूसरे को निर्भय होकर चार बातें सुना सकना ही सतगुरु का मुख्य लक्षण बन गया।

अन्तिम समय में कबीर फिर मगहर आ गये, उनको जीवन में काफी सफलता मिल चुकी थी परन्तु उनके देखते-देखते ही उनके शिष्य उनके विरोधियों से अधिक दम्भी बन चुके थे। कबीर ने जो कुछ सिखाया उस सब में मानो आत्मोद्धार की कोई बात न थी। दूसरों की भूलों को सुधारना ही मानो कबीर पंथ का मूलमन्त्र था। उनके शिष्य आपस में झगड़ते थे, उनके पुत्र ने उनकी ख्याति में एक नया कलंक लगा दिया। कबीर को अब अन्तिम दिनों में शान्ति की खोज थी। शरीर नष्ट होने पर तो मोक्ष मिलेगी परन्तु जीवित रहते हुए भी शान्ति मिलनी चाहिये—

मुए पीछे मति मिलौ, कहै कबीरा राम।
लोहा माँटी मिलि गय, फिरि पारस केहि काम॥

कबीर की मृत्यु पर भी उनके शिष्य आपस में झगड़ने लगे, दम्भ ने उनको अन्धा बना दिया था। कबीर इस बात को जानते थे इसलिये उन्होंने अपनी शैया पर फूलों का ढेर रखवा दिया था और स्वयं एक विश्वासपात्र शिष्य धर्मदास की देख रेख में अपने स्थान से दूर पहुँच गये थे। कबीर की मृत्यु के बाद जब धर्मदास घटना स्थल पर पहुँचे और उन्होंने अन्य शिष्यों को झगड़ता पाया तो शव पर से चादर उठाने का आदेश दिया—शव के स्थान पर सुगन्धित फूलों का ढेर था, कबीर के यश के समान ही संसार में सौरभ बिखेरता हुआ।

आज भी अंधेरी गलियों में अशिक्षित जनता के बीच किसी वृद्ध साधु को सारंगी पर गाता देख कर कबीर की सारी कहानी आँखों के सामने घूम जाती है—

पीले प्याला हो मतवाला, प्याला नाम अमीरस का रे।
बालापन सब खेलि गँवाया, तरुण भया नारी बस का रे।
बिरध भया कफ बाय ने घेरा, खाट पड़ा न जाय खिसका रे।
बिन सतगुरु इतना दुख पाया, बैद मिला नहिं इस तन का रे।
माता पिता बंधु सुत तिरिया, संग नहीं कोइ जाय सका रे।
जब लगि जीवै गुरु गुन गा ले,धन जोबन है दिन दस का रे।
चौरासी जो उबरा चाहै, छोड़ कामिनी का चसका रे।

सिंहलद्वीप आहि कैलासू

'सिंहल' शब्द के सुनते ही हमारा ध्यान उस द्वीप की ओर जाता है जिसको 'लंका भी' कहते हैं। प्राचीन काल में इसको 'ताम्रपर्णी' कहते थे।[1] 'महावंश' में लिखा है कि राजकुमार विजय और उनके साथी जब प्रथमबार उस द्वीप पर पहुँचे तो थकावट के कारण वे पृथ्वी पर हाथ टेक कर बैठ गये, मिट्टी ताम्रवर्ण की थी, उसके स्पर्श से उनकी हथेलियाँ ताम्रपर्ण सी (तांबे के पत्र जैसे रंग वाली) हो गई, इसीलिए उस द्वीप का नाम ताम्रपर्णी पड़ गया।[2] 'सिंहल' नाम उस द्वीप के किसी गुण पर आश्रित न होकर उस वंश के नाम पर है जिसने पहले पहले उस द्वीप की खोज की, कदाचित् जम्बुद्वीप वासी उसको 'सिंहल' कहते थे, और उपनिवेश बसाने वाले ये निवासी उसको 'ताम्रपर्णी'। राजकुमार विजय का वंश 'सिंहल' कहलाता था, क्योंकि बंगराज की आज्ञा से विजय के पिता सिंहबाहु प्रजा में आतंक उत्पन्न करने वाले अपने पिता सिंह को मार-कर ले आये थे; (सिंह + ल = सिंहल)।[3] अस्तु 'ताम्रपर्णी' का नाम 'सिंहल' हो गया। इसके कुछ भाग 'ओजद्वीप' 'मुण्डद्वीप' तथा 'नागद्वीप' भी

---

१ डा० भण्डारकरः लेक्चर्स ऑन दि एनशेंट हिस्ट्री ऑफ इंडिया पृ० ७

२ महावंश, सप्तम परिच्छेद, छंद ४१।

३ वही, ६। ३१-३२ तथा ७। ४२।

कहलाते थे।[1] इसके निवासी यक्ष तथा नाग बतलाये गये हैं।[2] वैभव तथा विलास का यह केन्द्र था, अनेक साहसी नवयुवक वहाँ जाकर रूपवती स्त्रियों तथा असंख्य रत्नों के स्वामी बन जाते थे, दलपति का विवाह तो उस पर मोहित होने वाली यक्षिणी के साथ होता था परन्तु उसके साथियों को भी अपने अपने पद के अनुकूल दूसरी यक्षिणियाँ मिल जाती थीं। राजकुमार पाण्डु वासुदेव सन्यासी के वेश में नाव द्वारा सिंहल पहुँचा था, और अपना पराक्रम दिखलाने के कारण उसका विवाह वह भद्र कात्यायिनी के साथ हो गया जिसके लिए संसार के सभी लोग इच्छुक थे (महावंश, अष्टम परिच्छेद)। इस प्रकार की कथा में पद्मावत की कथा का आधार खोजा जा सकता है। पद्मावती का पिता कम से कम नाम से (यक्ष नहीं सही) 'गन्धर्व' सेन था, उसके विलास तथा वैभव की क्या सीमा, पद्मावती के रूप पर तीनों लोकों के मधुप मँडराते थे, अन्त में जम्बुद्वीप का एक राजकुमार सन्यासी बन, नाव में बैठ वहाँ पहुँचा और अपना साहस दिखला कर उस विश्वसुन्दरी का पाणिग्रहण कर सका।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने पद्मावती के रूप सौंदर्य की वर्तमान सिंहलिनियों के रूप से तुलना करने पर यह निश्चय किया है कि जायसी का 'सिंहल' ऐतिहासिक सिंहल अर्थात् लंका न होकर राजपूताने या गुजरात का कोई स्थान होगा।[3] जायसी ने स्वयं भी 'सिंहल' को 'लंका' से भिन्न कोई द्वीप माना है, सात द्वीपों के नाम गिनाते समय सिंहल और लंका का अलग-अलग उल्लेख किया है, और सिंहल के राजा की लंका के राजा से तथा सिंहलनगर की लंका नगर से सर्वत्र तुलना की है :—

लंकदीप कै सिला अनाई। बाँधा सरवर घाट बनाई॥ (पृ० १२)
लंका चाहि ऊँच गढ़ ताका। निरखि न जाइ, दीठि तन थाका॥ (पृ० १५)
लंका सुनी जो रावन राजू। तेहु चाहि बड़ ताकर साजू॥ (पृ० १०)
और खजहजा अनवन नाऊँ। देखा सब राउन-अमराऊँ॥ (पृ० ११)

---

1 महावंश ११ / २१, १२/१३०, १ । ७७ तथा २०/१२

2 वही १/२१ २२ तथा १/८४

3 जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, ऐतिहासिक आधार, पृ० ७१

जायसी ने जो सात द्वीप गिनाये हैं उनका ऐतिहासिक या भौगोलिक महत्त्व है या नहीं, यह विचार नहीं करना; परन्तु यह निश्चय है कि इन नामों की जनता में काफी प्रसिद्धि रही होगी, 'कथक' इसीलिए इनका उल्टा-सीधा प्रयोग कर लिया करते थे। 'महावंश' के आधार पर इतिहासवेत्ताओं ने उन स्थानों की चर्चा की है जहाँ अशोक के समय में धर्म प्रचार के लिए स्थविर भेजे गये थे (महावंश, द्वादश परिच्छेद), जम्बुद्वीप के 'प्रत्यन्त' सात देशों (अथवा द्वीपों) की सूची दी गई है, डा० लॉ के अनुसार[1] यह प्रचार-क्षेत्र उत्तर में गांधार, दक्षिण में सीलोन, पश्चिम में पश्चिमी समुद्र तट तथा पूर्व में लोअर बरमा तक फैला हुआ था। गिनाये गये स्थानों[2] में से कुछ स्थानों के नाम जायसी के द्वीपों से मिलते हैं, जैसे सरनदीप[3] और स्वर्ण-भूमि, लङ्कद्वीप और लङ्का, दीप गभस्थल और गान्धार, दीप महिस्थल (या महुस्थल) और महिष्मण्डल—सरनदीप तो स्वर्णद्वीप या स्वर्णभूमि प्रसिद्ध है ही,[4] गभस्थल गान्धारस्थल ही हो सकता है, और महिस्थल को नमदा का दक्षिणवर्ती प्रदेश महिष्मण्डल ही मानना पड़ेगा; इसको इतिहास के इस मत का भी समर्थन प्राप्त है, कि अशोक के राज्यकाल में बौद्धमत उत्तर भारत में भली भाँति दृढ़ होकर पूर्व देश तथा दक्षिण देश में प्रवेश कर रहा था[5]। अब जायसी द्वारा गिनाये गये तीन द्वीप और रह गये—जम्बुद्वीप, सिंहलद्वीप, और दियाद्वीप; 'जम्बुद्वीप' के विषय में मतभेद को कोई स्थान नहीं है, 'सिंहलद्वीप' पर हम विचार कर रहे हैं, 'दियाद्वीप' बच जाता है, इसकी स्थिति पश्चिमी समुद्र तट पर माननी पड़ेगी क्योंकि पश्चिम ही एक ऐसी दिशा बच गई जिसका कोई स्थान शेष ६ द्वीपों में नहीं आ पाया है—जब तक कोई विद्वान् इस पर विशेष प्रकाश न डाले तब तक हम 'दियाद्वीप' को पश्चिमी समुद्र तट का द्वारका मान लेते हैं, बंगाली कवियों ने अपने मंगल काव्यों में पश्चिमी तट के लिए समुद्र यात्रा करने वाले

१ डा० लॉ: ज्योग्रैफी ऑफ अर्ली बुद्धिज़्म, पृ० ६०।

२ डाक्टर बी० जी० गोखले: बुद्धिज़्म एण्ड अशोक, पृ० ७२।

३ शुक्लजी ने लङ्का और सरनदीप को प्रक्षेप-प्रयोग मानने पर आपत्ति की है जो अनुचित है, बौद्ध इतिहास में भी इनको अलग-अलग माना गया है। (दे० जायसी ग्रंथावली, सिंहलद्वीप-वर्णनखण्ड, फुटनोट १)।

४ महावंश, द्वादश परिच्छेद, फुटनोट ४।

५ डॉक्टर बी० जी० गोखले: बुद्धिज़्म एण्ड अशोक पृ० ७२।

वणिकों का उल्लेख किया है, और कवि कंकण ने अपने चंडीकाव्य म अन्य मुख्य स्थानों के साथ द्वारका की भी सगौरव चर्चा की है।

सिंहल की पहिचानने से पूर्व ऊपर के विवेचन से परिलक्षित दो निष्कर्षों को ध्यान में रखना आवश्यक है—प्रथम यह कि लोक-कथाओं में 'द्वीप' शब्द का अर्थ 'समुद्र के बीच में निकला हुआ स्थल'[1] नहीं है, प्रस्तुत किसी भी भूभाग को 'द्वीप' कहा जा सकता है—भूखण्ड, देश, प्रदेश, नगर तथा द्वीप शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। द्वितीय यह कि जम्बुद्वीप के दक्षिण तथा पूर्व में भारतीयों के जो उपनिवेश बसे थे उनमें भारतीय संस्कृति की इतनी अधिक छाप थी कि मुख्य-मुख्य नगरों तथा नदियों के सारे नाम भारतवर्ष के ही रख लिए गये थे,—डा० भाण्डारकर ने चार मथुरा नगरों का उल्लेख किया है[2], ब्रह्मदेश में दूसरा भारत बसाने का तो सफल प्रयत्न हुआ ही, बौद्ध मत के भारत-बाह्य स्थानों की भी[3] ज्यों की त्यों आवृत्ति हो गई[3]। यदि भारत के वासुदेव कृष्ण का सारा जीवन सिंहलराज पाण्डुवासुदेव के दौहित्र पाण्डुकाभय के जीवन में प्रतिबिंबित मिलता है (दे० महावंश, नवम परिच्छेद), तो सिंहल के कैलाश आदि विहार तथा अनुराधपुर आदि नाम भी ब्रह्मदेश में पाये जाते हैं।

अशोक के जीवन-काल में तिष्य स्थविर द्वारा नियोजित तृतीय धर्म सगीति भारत में बौद्धमत की अंतिम सभा थी, इसके उपरान्त उत्तर से धीरे-धीरे बौद्ध मत का लोप होने लगा, साथ ही उसका लंका में उतना ही प्रभाव बढ़ने लगा। लंका का धर्म अधिक कट्टर था, भारत में जहाँ महायान को अधिक आश्रय मिला वहाँ लङ्का में हीनयान को, और पूर्व के देशों में लंका का प्रभाव अधिक था परन्तु उत्तर-पूर्व के देशों में भारत का। जब लंका में भी धर्म का झण्डा लड़खड़ाने लगा तो उसका एकमात्र गढ़ सुदूर पूर्व का ब्रह्मदेश ही बन गया—जो जोश एक समय जम्बुद्वीप में था, फिर किसी समय सिंहल में रहा, वह अब ब्रह्मदेश में अपना फल दिखलाने लगा। सातवीं

---

१. द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं, यदन्तर्वारिणस्तटम्। (अमरकोशः)।

२. डा० भाण्डारकर: लेक्चर्स ऑन दि एन्सेंट हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० १२।

३. डाक्टर आर० सी० मजूमदार. हिन्दु कोलोनीज इन दी फार ईस्ट, पृ० २१५ तथा २१६।

शताब्दी से ही ऐसे प्रामाणिक उल्लेख मिलते हैं जिनके अनुसार, जम्बुद्वीप तथा लङ्काद्वीप के बौद्ध विद्वान् विशेष अध्ययन के लिए ब्रह्मदेश जाते थे, सातवीं शताब्दी में नालंदा के अध्यापक काञ्चीवासी धर्मपाल तथा ग्यारहवीं शताब्दी में बंगाल के अतीस दीपांकर बौद्धमत के विशेष अध्ययन के लिए इन पूर्व देशों में गये थे[1], अरिमर्दनपुर के राजा *अनिरुद्ध*[2] *(मृत्यु १०७७ ई०)* के शासन को तो *स्वर्ण युग* कहा जा सकता है। इधर भारत में ब्राह्मण धर्म फिर से जाग उठा था, और शिक्षित समाज बौद्धमत को छोड़ चुका था, छठवीं शताब्दी से ही वेद-शास्त्रों की दुहाई दी *जाने लगी थी*[3], बौद्धमत *या तो कुछ* विहारों में बन्द रह गया या निम्नस्तर की जनता में बिखरा हुआ। यह जनता धर्म का केन्द्र *आज भी भारत के बाहर किसी द्वीप को* जानती थी, और श्रुति परम्परा से उस द्वीप का नाम इस जनता में 'सिंहल' था। लोकसाहित्य में सिंहलद्वीप इसी अर्थ में आया है, हिन्दी तथा बंगाली की अधिकतर लोक कथाएँ सिंहल के बिना चलती ही नहीं, यहाँ तक कि रामकथा में भी बंगालियों ने दशरथ का विवाह[4] *सिंहलराज पुत्री से करा दिया* है। इस प्रकार यह *निश्चय* है कि जायसी का धर्मद्वीप प्राचीन सिंहल (लंका) न होकर नवीन सिंहल या सिंहलाभास (ब्रह्मदेश का कोई भाग) है।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने *सिंहल* की *स्थिति राजपूताने या* गुजरात में मानी है, बंगाल के विद्वान ने भी दशरथ की ससुराल वाला सिंहल[5] लगभग वैसा ही कोई स्थान बतलाया है, तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार सिंहलदेश या त्रियादेश हिमालय

---

१ डाक्टर आर० सी० मजुमदार: ग्रेटर इंडिया, पृ० २९—२०।
डाक्टर आर० सी० मजुमदार: हिन्दु कोलोनीज इन दि फार ईस्ट, पृ० ८२

२ डा० मजुमदार: हिन्दु कोलोनीज० पृ० २१०—२११।

३ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी: मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ९—१०।

४ श्री कालिदास राय: प्राचीन बंग-साहित्य, कृत्तिवास, पृ० १४।

५ वही, वही, वही।

बाँगाली कवि *सिंहल*—राजकन्यार संगे दशरथेर विवाह दिया सिंहल धार संदा जे एक भय नहाइ चलियाछेन। एइ सिंहल भारतेर मध्येइ एकटा प्रदेश, मृगया करित करिते सेखाने पौंछानो याय। . . .

के चरणों में स्थित नाथों का कोई प्रसिद्ध परीक्षा-स्थान है।[1] परन्तु जायसी का सिंहलद्वीप इन तीनों स्थानों में से एक भी नहीं है, उस तक पहुँचने के लिए समुद्र-यात्रा तो करनी ही पड़ेगी, बंगीय लोक-कहानियों में भी समुद्री मार्ग से ही सिंहल पहुँचा जाता है।

जायसी ने जम्बुद्वीप से सिंहलद्वीप पहुँचने का समुद्री मार्ग बतला दिया है। दण्डकारण्य से दो मार्ग सामने आते हैं—एक सिंहल जाने वाला और दूसरा लंका के पास पहुँचाने वाला। लंका वाले मार्ग को एक ओर छोड़कर उड़ीसा में समुद्र-तट पर जा निकलते हैं।[2] बंगाली कवि वंशीदास के अनुसार सिंहल जाते समय एक ओर कलिंग और उत्कल देश रह जाते हैं दूसरी ओर दक्षिण का सेतुबन्ध रामेश्वर, और कनकलंका सामने दिखलाई पड़ती है[3]। कविकंकण मुकुन्दराम के अनुसार सेतुबन्ध को एक ओर छोड़कर जब धनपति ने दूर से लंका के प्रासादों को देखा तो पूछा कि सिंहल कितनी दूर है? फिर रात्रि-दिन चलते रहने के उपरान्त वे कालीदह (गंभीर सागर) को पार करके सिंहल नगर के निकट आ गये[4]। रतनसेन के लौटने का भी जायसी ने ऐसा ही वर्णन किया है—

---

१ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी नाथ सम्प्रदाय, पृ० ९९, तथा पृ० १६७.

२ पुनि आइ बन परबत माहीं। दंडाकरन बीझ बन जाहीं॥
एक बाट गइ सिंघल, दूसरि लंक समीप॥
आगे पाव उड़ैसा, बाएँ दिसि सो बाट।
दहिनावरत देइ कै, उतरु समुद के घाट॥ (जोगी खंड)

३ कलिंग उत्कल देश डाइने थुइया।
सेतुबंध रामेश्वर राखिया दक्षिणे॥
सम्मुखे कनक लंका देखे ततक्षणे॥ (मनसा मंगल)

४ सेतुबन्ध सदागर पश्चात् करिया।
दूर हैते देखे साधु लंकार मथाल।
अलंघ्य सागर जानि यामे नाहि स्थल॥
पथिक जिज्ञासे कत योजन सिंहल?
रात्रि दिन चले साधु तिलेक नाहि रहे।
? उपनीत धनपति हैला काली दहे।
वाह वाह बलिया डाकेन सदागर।
निकट हइल राज्य, सिंहल नगर॥ (चंडीकाव्य)

आधे समुद ते आये नाहीं। उठी बाउ आँधी उतराहीं॥
बोहित चले जो चितउर ताके। भये कुपंथ, लंक दिसि हाँके।
महिरावन के रीढ़ जो परी। कहहु सो सेतु बंध बुधि हरी॥
(देश यात्रा खंड)

जगन्नाथ कहँ देखा आई। भोजन रींधा भात बिकाई॥
(लक्ष्मी समुद्र खंड)

इन वर्णनों से यह स्पष्ट है कि (१) समुद्र-यात्रा के लिए उड़ीसा में पुरी[1] का बन्दरगाह एक सामान्य स्थान था, (२) सेतुबन्ध तथा लंका को दूर से देखकर मार्ग का अनुमान लगाया जाता था. (३) पूर्वी समुद्र में जिस ओर लंका है उससे दूसरी ओर सिंहल का मार्ग है. (४) तथा जहाँ से लंका दिखाई पड़ती है वहाँ से सिंहल आधी से कम दूर रह जाता है—जाने वाले के मन में धैर्य बँध जाता है कि अब कुछ ही दिनों की और बात है। इस प्रकार सिंहल दक्षिणी ब्रह्मदेश का कोई समुद्रतटवर्ती प्रसिद्ध स्थान है; बंगीय कवियों ने जिसको अपनी कविता में 'पूर्व देश' कहा है, और बंगीय विद्वानों ने जिसको बौद्ध मत का केन्द्र 'निम्नवङ्ग' माना है[2]। इतिहास यह बतलाता है कि उत्तर ब्रह्मदेश की अपेक्षा दक्षिण ब्रह्मदेश में भारतीयों का आना जाना अधिक था, और वे समुद्री मार्ग से ही जाते थे[3]।

स्वर्णद्वीप या स्वर्णभूमि नामों का प्रयोग बड़े अनिश्चित अर्थ में होता था, सुदूर पूर्व के सभी देशों के लिए भी इन नामों का व्यवहार था तथा प्रदेश विशेष या विशेष प्रदेशों के लिये भी। संभव है जावा को कभी यह नाम मिला हो, क्योंकि एक समय इसका

---

१ बंगीय कवि भी पुरी से ही अपनी समुद्र यात्रा प्रारम्भ करते हैं।
(दे० डा० श्री रमेशचन्द्र दास गुप्त: प्राचीन बांगाला साहित्येर कथा, सेकाले बांगालीर वाणिज्य, पृ० ७७)।

२ बांगालार 'पूर्व देश' बलिते ब्रह्मदेशकेइ (विशेषतः निम्नवङ्ग बुझाइतेछे जातिविचारहीन बौद्धगण के निपाइ बोध होइ कविरलेप करिया बलिते छेन जे 'सब जाति एकाचारी नाहिक आचार'।
(वही, वही, वही पृ० ८४)

३ इण्डियन्स कोलोनाइज्ड ल्यू बेर बाइ सी टु लोअर बर्मा बट फार लार्जर हुम नम्बर देन दोज़ हू प्रोमोटेड बाइ डिफिकल्ट लैंड रूट्स टु अपर बर्मा। (डा० मजूमदार: हिन्दू कोलोनीज़ पृ० १११)

राजनीतिक प्रभाव सर्वत्र था. यह पहले हीनयान तथा फिर महायान का केन्द्र बन गया था, सुमेरु पर्वत यहीं खोजा जा सकता है तथा १२ वीं शती में यहा का सिंहनारि राज्य बड़ा शक्तिशाली था[1]। तब सिंहल की खोज में ह्यूएनसांग द्वारा दिये गये मोन राज्य की सीमा प्रदेशों का आश्रय लेते हैं, दिये गये ६ नामों में से प्रथम को आजकल श्री क्षेत्र समझा जाता है[2], यह दक्षिण ब्रह्मदेश की समुद्र-तटवर्ती प्रसिद्ध राजधानी थी, जिसमें पहले हिंदू संस्कृति का केन्द्र था और फिर राजा अनिरुद्ध की कट्टरता के कारण ११ वीं शती में बौद्ध मत की सांस्कृतिक पीठ बन गई। जायसी का सिंहल यही श्रीक्षेत्र जान पड़ता है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने श्री पर्वत नाम के एक सिद्धिपीठ की चर्चा की है[3] जो वज्रयानी सिद्धों का केन्द्र था, यह दक्षिण में था, क्या आश्चर्य है कि भारत से बौद्धमत के साथ यह नाम (श्रीपर्वत या वज्रपर्वत) भी दक्षिण ब्रह्मदेश में अपने गुणों को ले गया हो, और ब्रह्मदेश के पुराने श्रीक्षेत्र में भारत के इस श्रीपर्वत के गुणों की कल्पना उस पिछड़ी हुई जनता ने कर ली हो? डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी स्त्रीदेश, त्रियादेश, तथा सिंहल को एक मानते हैं; क्या श्रीक्षेत्र को स्त्रीदेश (स्त्रीक्षेत्र) या सिंहल मानने में इससे अधिक कल्पना की आवश्यकता है, विशेषतः उस परिस्थिति में जब शेष सारी बातें यहाँ मिल जाती हों?

जायसी के सिंहलद्वीप में दो और बातों पर भी ध्यान जाता है। प्रथम तो यह कि जायसी ने बार बार उसकी लंका से तुलना की है, जिसका अभिप्राय यह कि सिंहल का आदर्श जम्बुद्वीप की अपेक्षा लंका अधिक है, अर्थात् लंका का महत्व कम होने के साथ सिंहल का उत्कर्ष हुआ और क्योंकि यह उत्कर्ष बौद्धमत सम्बन्धी ही था, इस लिए सिंहल को लंका के उपरान्त प्रसिद्धीभूत धर्मस्थल मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह कि जायसी ने सिंहली हाथियों की बड़ी प्रशंसा की है (सिंहलद्वीप-वर्णन-खंड, दोहा २० से २१ तक) जो स्वयं सिंहल के ब्रह्मदेश में होने का प्रमाण है।

जायसी के सिंहलद्वीप के साथ कदली वन या कजरीवन (या कदली देश) का नाम भी प्रायः लिया जाता है। बंगाल की गोरक्ष-

---

१. डा० मजुमदार हिन्दु कोलोनीज०, पृ० ६१ से ६५ तक
२. वही वही, पृ० १६७–१६८
३. पुरातत्त्व, निबंधावली वज्रयान और चौरासी सिद्ध, पृ० १४३

विजय कहानियों में यह प्रसंग बड़े महत्त्व का है कि जब गोरक्षनाथ के गुरु मीननाथ कदली देश की कामिनियों के जाल में फँस गए तो गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया था। गोबिन्ददास (१८ वीं शती) ने अपने कलिका-मंगल-काव्य में इस घटना का इस प्रकार उल्लेख किया है—

मीननाथ नामे छल एक महायोगी। भाव जानिते तेह हइलेन वैरागी॥
शतेक कामिनी लैया कदलीर वने। अतिरसे अनुरागी हैल दिने दिने॥
गोरक्षनाथ परम योगी मीननाथेर शिष्य। नाना यत्न करिलेक गुरुर उद्देश्य॥

जायसी ने भी परम्परा के अनुसार 'कजरीबन' की कथा का संकेत किया है परन्तु गोरक्षनाथ के प्रसंग में नहीं, गोपीचन्द या भर्तृहरि के ही प्रसंग में—

(क) जौं भल होत राज औ भोगू। गोपिचन्द नहिं साधत जोगू॥
उन्ह-हिय-दीठि जो देख परेवा। तजा राज कजरी-बन सेवा॥
(जोगी खंड)

(ख) जानौं आहि गोपिचन्द जोगी। की सो आहि भरथरी वियोगी॥
वै पिंगला गए कजरी-आरन। ए सिंघल आए केहि कारन?॥
(वसंत खंड

वस्तुतः जायसी की दृष्टि में कदलीवन और सिंहलद्वीप दो भिन्न भिन्न स्थान हैं, यह संभव है कि दोनों ही धार्मिक परीक्षा के केन्द्र रहे हों, परन्तु दोनों को एक ही न समझना चाहिए।

यह पूछा जा सकता है कि क्या सचमुच जायसी के मन में इन स्थानों की भौगोलिकता का भी कोई ध्यान था। उत्तर निश्चय ही निषेधात्मक होगा। जायसी और उनकी परम्परा का इन स्थानों से सुना-सुनाया परिचय था, वे बंगीय लोक कवियों के समान भी नहीं माने जा सकते जो समुद्रजीवी लोगों के ही बीच रहते थे। समुद्र तथा तद्विषयक ज्ञान जायसी आदि को पूर्वी लोक-कहानियों (बंगीय लोक-काव्यों) के प्रभाव से ही मिला होगा, इसीलिए इनके नाम आदि विश्वसनीय नहीं है परन्तु वर्णनों की सचाई पर सन्देह नहीं किया जा सकता। वस्तुतः जायसी की दृष्टि से तो उनका सिंहलद्वीप केवल कैलाश है—सिंहलद्वीप आहि कैलासू। यदि 'आखिरी कलाम' के वर्णनों से तुलना करते हुए रत्नसेन की सिंहल यात्रा पर विचार किया जाय तो यह रहस्य भी स्पष्ट हो जाता है।

पद्मावत के पूर्वार्द्ध में ("षट्-ऋतु-वर्णन-खंड" तक के २६ खंडों में) प्रलय तक की कहानी प्रतीक रूप में कही गई है। रत्नसेन पैगम्बर का प्रतिनिधि सूफी गुरु (या स्वयं पैगम्बर) है, सोलह सहस्र राजकुमार उसके अनुयायी हैं जो उसके रास्ते पर ईमान लाते हैं, समुद्र का किनारा ही इश्क का प्रारम्भ है, मार्ग के सात समुद्र नाना प्रकार की यातनाएँ हैं। अन्त में सिंहल का सुख स्वर्गभोग है, पार्वती बीबी फातिमा जान पड़ती हैं क्योंकि उसी की दया से सब का उद्धार होता है, तोते का वचन कुरान का उपदेश था। इस प्रकार रसूल के कलाम पर ईमान लाने वाले सूफी मुरशिद के अनुयायी अनेक यातनाओं के सहने के बाद अन्त में अखंड स्वर्गभोग को प्राप्त करते हैं; और शेष सारे लोग नरक कुंडों में पड़े-पड़े सड़ते रहते हैं। प्रेमपथ पर चलने वाला उस मार्ग को प्राप्त करता है जहाँ मृत्यु तो है ही नहीं; केवल सुख ही सुख है, और जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता।[1] पहले पाँच समुद्र मृत्यु से पूर्व की परिस्थितियाँ हैं, जो इनमें डूब जाता है उसका उद्धार नहीं हो सकता। खार समुद्र में संसार का तिरस्कार है इसको वही पार कर सकता है जिसके हृदय में "सत"[2] है, खीर समुद्र में भोग का आकर्षण है यदि मन फँस गया तो योग भ्रष्ट हो जाता है[3], दधि समुद्र में प्रेमाग्नि है इसकी जलन व्यर्थ नहीं जाती[4], उदधि समुद्र में प्रेम की तड़पन है[5], और सुरा समुद्र में प्रेमोन्माद है[6] जिसके कारण ही सिंहल की यात्रा की जाती है। इसके अनन्तर किलकिला समुद्र आता है जो मृत्यु की यात्रा है, यह प्रलय का दृश्य है[7] जिसको देखकर होश हवाश उड़ जाते हैं[8], इसी अवसर के लिए गुरु

१. प्रेम-पंथ जौं पहुँचै पारा। बहुरि न मिलै आइ एहि छारा॥
तेहि पावा उत्तिम कैलासू। जहाँ न मीचु, सदा सुख बासू॥
(बोहित खंड)

२. सत साथी सत कर संसारू। सत खेइ लेइ लावै पारू॥
(सात समुद्र खंड)

३. मनुवाँ चाह दरब औ भोगू। पंथ भुलाइ बिनासै जोगू॥ (वही)

४. दधि समुद्र देखत तस दाधा। प्रेमकलुबुध दगध पै साधा॥ (वही)

५. तलफै तेल कराह जिमि, इमि तलफै सब नीर॥ (वही)

६. जो तेहि पियै सो भाँवरि लेई। सीस फिरै, पथ पैगु न देई॥ (वही)

७. भै परलै नियराना जबहीं। (वही)

८. भै औसान सबन्ह कर, देखि समुँद कै बाढ़ि॥ (वही)

की विशेष आवश्यकता होती है[1]। इस 'पुले सरात' का चित्र जैसा पद्मावत में है वैसा ही आखिरी-कलाम में भी :—

(क) इहै समुद्र-पंथ मझधारा। खाँड़े कै असिधार निनारा।
तीस सहस्र कोस कै पाटा। अस साँकर चलि सकै न चाँटा।
खाँडे चाहि पैनि बहुताई। बार चाहि ताकर पतराई॥
परा सो गएउ पतारहि, तरा सो गा कबिलास॥
कोई बोहित जस पौन उड़ाहीं। कोई चमकि बीजु जस जाहीं॥
कोई जस भल धाव तुखारू।
कोई रेंगहि जानहुँ चाँटी। कोई टूटि होहिं तर माटी॥
(पद्मावत)

(ख) तीस सहस्र कोस कै बाटा। अस साँकर जेहि चलै न चाँटा।
बारहु तें पतरा अस झीना। खड़ग-धार से अधिकौ पना॥
जो धरमी होइहिं संसारा। चमकि बीजु अस जाइहिं पारा॥
बहुतक जानौं रेंगहि चाँटी। बहुतक बहैं दाँत धरि माँटी॥
(आ० कलाम)

यदि यात्री नरक-कुंडों में गिरने से बच गया तो अब अंतिम समुद्र मानसर में आता है, इसको 'मानसर' क्यों कहा गया, इसका उत्तर भी 'आखिरी कलाम' में ही मिलेगा—यह दूध और पानी को अलग अलग करने का स्थान है[2], यहाँ हमारे कर्मों का न्याय होता है। जब बीबी फातिमा की दया से सबका उद्धार हो गया तो रसूल और उसके अनुयायी सुगंधित जल से नहाकर सज-धजकर ज्योंनार के लिये बैठे, सब के बीच मुहम्मद ऐसे लगते थे जैसे बरात के बीच दुलहा बैठा हो[3] दुलहा मुहम्मद और दुलहा रत्नसेन में कोई भेद नहीं है; जिस प्रकार पद्मावती के अनूप रूप को देखकर रत्नसेन तन मन की सुधि भूल जाता है उसी प्रकार परम ज्योति की झलक पाकर रसूल मूर्च्छित हो गया। स्वर्ग भोग का वर्णन दोनों स्थलों में एकसा है, इधर हूरें हैं उधर पद्मिनियाँ हैं—आगे चलकर हूरों को 'पद्मिनी' कह दिया है, सिंहल की कामिनियाँ तो अप्सराएँ थीं ही। रत्नसेन

---

१. पहुँचौ ठाँव कहँ गुरु संग लीजिय॥ (सात समुद्र खंड)
२. नीर खीर दुँह काढ़ब छानी। करब निनार दूध औ पानी॥ (आ० कलाम)
३. ऐसे जतन बियाहि, अस साजै बरियात।
दूलह जतन मुहम्मद, बिहिस्त चले बिहँसात॥२३॥ (वही)

की यरोत-अभा-रसूल का जलूस बिलकुल एक सा ही है, जिनको देखने के लिए अप्सराएँ बन ठनकर झरोखों में आ बैठती हैं। जायसी ने 'बिहिस्त' को 'कैलास' कहा है और सिंहलद्वीप को भी, दोनों में सात खंड के प्रासाद हैं, वही अगर, कपूर, कस्तूरी की चहल पहल, वही राजकुमारी युवती पद्मिनियों के साथ भोग विलास, वही शरीर की सुकुमारता और रूप का अपूर्व आलोक ॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्थूल रूप से जायसी का सिंहल लोक परम्परा म प्रसिद्ध दक्षिणी महादेश का वैभव सम्पन्न और धर्म-स्थल कोई समुद्रतटवर्ती प्रदेश है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि स यह इस्लामी परम्परा का स्वर्ग है, जो रसूल के अनुयायियों का सुरक्षित स्थान कहा जा सकता है।

('हिन्दी-अनुशीलन' के सौजन्य से)

विनय पत्रिका

(१)

(१) गोस्वामी तुलसीदास के जितने ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, उन सब में किसी-न-किसी रूप से 'हरिचरित' का ही संकीर्तन पाया जाता है, केवल 'विनयपत्रिका' इसका अपवाद है। यदि 'विनयपत्रिका' कवि की प्रथम रचना होती तो हम यह सोच सकते थे कि सूरदास के समान इस भक्तकवि ने भी समय-समय पर विनय के पद रचे और फिर उनका संकलन एक ग्रन्थ के रूप में हो गया, परन्तु काल-स्थिति इसके विपरीत है—यह ग्रन्थ कवि की प्रथम नहीं अन्तिम रचना है। *गोस्वामी जी ने "प्राकृत जन गुनगाना" से विरत रहने की तो प्रतिज्ञा* की थी, परन्तु "संसय-विहँग उड़ावनहारी" "प्राकृत-नर-अनुरूप" राम कथा को "हरि-पद-दायनी" जानकर वे भिन्न-भिन्न शैलियों तथा भिन्न-भिन्न काव्य-भाषाओं में इसका प्रसार करते रहे। यह गोस्वामी जी की लोकसेवा थी कि "नानापुराण निगमागम सम्मत" "रघुनाथ-गाथा" को उन्होंने 'भाषा' में भक्त-मात्र के लिए सुलभ बना दिया, इस काम को कोई दूसरा प्रतिभाशाली 'वचन प्रवीन' भी कर सकता था—भले ही उसके कवित्व से पाठकों के मानस में उतनी 'प्रीति पुनीत' न उत्पन्न होती। संसार का कार्य (स्वान्तः सुखाय किये जाने पर भी) *निर्लिप्त रहने वाले कर्त्ताओं को भी है विशुद्ध परमार्थ नहीं प्राप्त करा* सकता, क्योंकि उसमें द्वैत की भावना रहती है और जहाँ द्वैत है वहाँ राग-द्वेष भी है, *यही कारण है कि 'रामचरितमानस'* जैसे भक्तिरत्नाकर में भी खल, शठ, 'निसिचर', भक्ष्याभक्ष्य खाने वाले तापस और सिद्ध, तथा '*अभेदवादी ज्ञानी नर*' आदि पर कटु प्रहार किया गया है। इतना ही नहीं कथा में ऐसे पात्रों का आना अनिवार्य है जिनके प्रति कवि की आत्मीयता नहीं प्रत्युत घृणा उमड़ती दिखलाई पड़ती है, रामकथा के कैकेयी, रावण आदि पात्र इसी श्रेणी में आते हैं, जिनको तुलसी के आदर्श पात्रों ने भी खरी-खोटी सुनाई है। कहने का तात्पर्य यह कि चाहे प्राकृत-नर-गाथा हो चाहे प्राकृत-नर-अनुरूप गाथा हो, उसमें मायाजन्य द्वैत आजाने के कारण रागद्वेष आ जाता है और परमार्थ में बाधा उपस्थित होती है। कदाचित् इसी

लिए गोस्वामी तुलसीदास ने अपने जीवन का बहुत कुछ समय रामकथा में लगाकर भी 'विनयपत्रिका' जैसे एक पारमार्थिक काव्य की रचना आवश्यक समझी, इस प्रकार वे अपने को 'प्रेमभगति अनपायनी' का अधिक उपयुक्त अधिकारी बना सकते थे।

(२) विनय के हमारे साहित्य में न जाने कितने ग्रन्थ होंगे, और कवि जन किसी श्रद्धेय या स्नेही के लिए पत्र या 'पत्रिका' भी लिख दिया करते हैं, परन्तु इन दोनों गुणों का एक ही स्थान पर संयोग अभूतपूर्व है—'विनयपत्रिका' ही एक मात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसका नाम भी नितान्त मौलिक है, और उस नाम का कारण उपर्युक्त संयोग भी। वर्णनात्मक काव्यों में कवि का व्यक्तित्व तो रहता ही है पाठकों का एक हलका सा चित्र भी कवि की आँखों के सामने रहता है. कवि जानता है कि उसको पाठकों से क्या कहना चाहिए जिससे अभीष्ट प्रभाव की उत्पत्ति हो सके—तुलसी इस गुण में औरों से आगे ही दिखलाई देते हैं वे ठीक समय पर ठीक पात्र के मुख से कुछ कहलवाकर अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करते हैं—घोर, 'भूत-जन' की सेवा करने वालों की दुर्गति को अप्रस्तुत बनाकर भरत ने कौशल्या के सम्मुख जो सपथ ली थी वह प्रसिद्ध ही है। क्या आश्चर्य है कि ऐसा कवि अपनी कमजोरी को छिपाता ही चला जाता है, क्योंकि यदि पाठक उसकी कमजोरी को जान जावेंगे तो उनके मन पर उसके कथन का उतना प्रभाव न पड़ेगा। और अपनी दुर्बलता को छिपाना या कम से कम उसकी अवहेलना करना भारतीय विचारकों को रुचिकर नहीं लगा, शृङ्गारी कवि भी अन्तिम दिनों में भक्त बनने का प्रयत्न करते रहे हैं। अस्तु, 'विनयपत्रिका' अन्तिम रचना क्यों है, वह गोस्वामी जी के दूसरे ग्रन्थों से नितान्त भिन्न क्यों है इसका नाम एक दम इतना अनोखा क्यों है—आदि-आदि समस्याओं का कुछ कुछ रहस्य हमारी समझ में आ सकता है।

(३) वर्णनात्मक काव्य में हमको बन ठनकर ही पाठकों के सामने आना पड़ता है, पत्र में इसकी आवश्यकता नहीं, जो इतना निकट है कि हमारे हृदय की बात सुन सकता है उससे क्या दिखावा और क्या छिपाना? पत्र लेखन स्वयं एक कला है, जिसका सौन्दर्य हृदय की सचाई पर निर्भर है—यह प्राकृतिक सौन्दर्य है कैंची से काट-छाँट कर बनाई गई कृत्रिम कला नहीं। 'विनयपत्रिका' में यदि काव्य के बाह्यपक्ष की खोज की जावेगी तो शोधक को अपने परिश्रम पर हर्ष

नहीं हो सकता, वर्णन की कला का तो यहाँ प्रश्न ही नहीं आता, अलंकार भी अति विरल हैं, छन्द साहित्यिक नहीं हैं, और भाषा का स्थिर रूप नहीं मिलता। यदि बाह्य सौन्दर्य नाम की कोई वस्तु यहाँ मिलती है तो वह नाद-सौन्दर्य भर है, जिससे हृदय की तन्मयता बढ़ती है कवि की प्रशंसा को हम लालायित नहीं होते। कोरा साहित्यिक जब सिद्धान्तों की कसौटी पर इस ग्रन्थ की कला को कसेगा तो वह यहाँ मानसकार कवि तुलसी का पेंसिल स्कैच ही पा सकेगा, यथार्थ चित्र नहीं। भारतीय भक्त हृदय से अपरिचित स्कालरों को तुलसी की रचनाओं में सबसे अरुचिकर कदाचित् 'विनयपत्रिका' ही लगती है। संस्कृत शब्दावली का अविच्छिन्न प्रवाह, अनुस्वारान्त शब्दनिर्माण की अस्वाभाविकता, आचरणविस्तृत समास, असाहित्यिक शुष्क साग रूपक, 'राम राम रटु राम राम रटु, राम राम जपु जीहा' या "राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे" की निरर्थक रट, और अपनी हीनता एवं राम की बड़ाई को बार-बार सुनकर उनका दम घुटने लगता है। न मनोहर वर्णन है, न मंजुल कथोपकथन, न कथा का प्रवाह है, न अलंकारों की छटा। इस अनलंकृत सचाई का कारण इस ग्रन्थ का 'पत्रिका' रूप में उपस्थित होना है।

(४) जो पत्र अपने बराबर वाले को लिखा जाता है उसमें उसके व्यक्तित्व का ध्यान भी रखा जा सकता है। यदि पत्र अपने से बड़े आश्रयदाता आदि को लिखा जावे तो उसमें उचित-अनुचित को सोचे बिना एक शब्द का प्रयोग भी हम नहीं कर सकते। परन्तु कुछ पत्र ऐसे व्यक्तियों को लिखे जाते हैं जिनसे हमारा तनिक भी दुराव-छिपाव नहीं—वे हमारी अच्छी बात भी जानते हैं साथ ही बुरी बातें भी, हम उनसे रूठ भी जाते हैं, उन पर उबल भी पड़ते हैं, कभी-कभी उनके सामने आँसू बहाने लगते हैं, कभी दूसरों की उनसे शिकायत करने लगते हैं—जब मैंने तुमको अपना समझा है तो अपना हृदय तुम्हारे सामने खोलकर रखने में मुझको क्या संकोच, मैं जैसा भी हूँ तुम्हारा ही हूँ, तुम अपनाओ या ठुकराओ—तुम्हारी इच्छा। भगवान के साथ भक्त का ऐसा ही सम्बन्ध है। जो सर्वव्यापक और अन्तर्यामी है उससे दुराव-छिपाव तो संभव ही नहीं, हाँ यदि हम अपनी ओर से सब कुछ उसके सामने ठीक-ठीक निवेदन करदें तो हमारा हृदय भी हलका हो जावेगा और वह भी हमारे अनन्य प्रेम से पिघल जावेगा। 'विनयपत्रिका' में गोस्वामी जी ने इसी नीति

का सहारा लिया है, यही स्पष्टवादिता और अनन्यता है:—

(क) खोटो खरो रावरो हौं, रावरो सौं; रावरे सों
झूँठ क्यों कहौंगा ? जानो सबही के मन की।
॥ पद संख्या ७५ ॥

(ख) जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ?
काको नाम पतितपावन जग ? केहि अति दीन पियारे ? ॥१०१॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तुलसी के व्यक्तित्व का जितना स्पष्ट तथा स्वाभाविक चित्र इस ग्रन्थ में मिल सकता है उतना अन्यत्र नहीं। तुलसी मुख्यत: भक्त थे और उच्चकोटि के अनन्य भक्त, 'विनय पत्रिका' में उनके श्रद्धालु भक्त हृदय के सच्चे उद्गार काट-छाँट से रहित स्वाभाविकता तथा टीमटाम से शून्य कला में विकसित होकर दूसरे भक्तों के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। भावों की स्वाभाविकता तथा अभिव्यक्ति की अकृत्रिमता की कसौटी पर कभी जावे तो भी 'विनय-पत्रिका' गोस्वामी जी की सर्वश्रेष्ठ कृति ठहरती है।

(५) विनय पत्रिका' में २७६ पद हैं, परन्तु न कोई कथा है और न कोई योजना—प्रयत्न करने पर भक्ति के ६ रूप तो मिल भी सकते हैं कारण यह है कि कवि को तो एक पत्र लिखना है, किसी योजना के अनुसार (भक्तिरस का ही सही) काव्य नहीं लिखना। कभी वह जीव को समझाने लगता है (७४), कभी भगवान से कुछ कहने लगता है (७५-८१) कभी वह पश्चात्ताप करने लगता है (८२-८५) और कभी मूढ़ मन को 'सिखावन' सुनाने लगता है (८७) और ये सब बातें न जाने कितनी बार कितने स्थलों पर आई हैं—यदि योजना का ध्यान रहता तो एक प्रकार के पद एक साथ ही आते। मन को बार-बार समझाने पर भी जब मन मूढ़ता न छोड़ सका (९०) तो भक्त ने हरि से अपने मायाजन्य नृत्य की शिकायत की (९१) और फिर उनको बड़ी ग्लानि उत्पन्न हुई (९२) सोचा करुणा निधान भगवान की कृपा (९३) मुझ पर क्यों नहीं हो रही, मुझको उन्होंने भुला क्यों दिया (९४), शायद इसका कारण मेरे अवगुण (९५-७) हैं। इस प्रकार अनन्य भगवद् भक्ति के सात्विक उद्गार 'विनयपत्रिका' में भरे पड़े हैं। यदि तुलसी के इस ग्रन्थ की तुलना 'सूरसागर' के विनय खंड (प्रारंभ के २०३ पदों) से की जावे तो ध्यान दो बातों पर जाता है। प्रथम है 'विनयपत्रिका' का पत्रिका रूप में प्रस्तुत करना जिसके

कारण इसमें सूरसागर के उक्त खंड की अपेक्षा कहीं अधिक ध्य त्य की छाप मिलती है। द्वितीय यह कि 'विनयपत्रिका' अधिक प्रौढ रचना है—इस अवस्था तक आते आते कवि के भावों में यह कोरी गर्मी नहीं रही, वह कौशल अनावश्यक होगया, रह गया केवल संसार के अनुभव तथा शास्त्रों के मनन क अनन्तर शान्त एव सात्विक हृदय, जिसका सर्वस्व भगवान् राम तक ही सीमित है—उसका ज्ञान, उसकी समझ, उसका विश्वास, उसका प्रेम सब कुछ उन्हीं के लिए है उन्हीं की कृपा से उत्पन्न उन्हीं के चरणों में समर्पित। उद्वेगविहीन हृदयप्रसार से आप्लावित यह भक्ति 'सुधानिधि' तृपातुर भक्तों के लिए अमाघ दान है।

(६) प्रौढ़ता (कला की नहीं, भक्ति की) की दृष्टि से सूरसागर के विनय-खंड तथा 'विनयपत्रिका' की तुलना विस्तार पूर्वक भी की जा सकती है। 'सागर' में 'वासुदेव की बड़ी बड़ाई' का लम्बा चौड़ा वर्णन है, अनेक अवतारों में उनके कृत्य और उनकी महिमा, उनका स्वभाव, भक्तवत्सलता आदि; फिर 'माया महाप्रबल' के अनेक रूप आलंकारिक भाषा में उपस्थित किये गये हैं; इस प्रकार संसार की असारता तथा भगवान् की भक्त-वत्सलता की तुलना कर कवि मन को 'भगवन्त भजन' की प्रेरणा देता है। अपनी दीनता की चर्चा शायद संसार की असारता से भी अधिक है, बीच-बीच में अनेक पौराणिक प्रसंग आगये हैं। सम्पूर्ण खंड पढ़ चुकने के बाद भी पाठक के मन को आनन्दमग्न कर सकने वाले स्थल प्रायः नहीं मिलते—वैराग्य तथा करुणा के स्थल तो अनेक हैं। दूसरी ओर 'विनयपत्रिका' में अधिकतर पद स्तुति के हैं, पौराणिक प्रसंग न होने के बराबर हैं, अवतारों की चर्चा एक दो पद में ही हो जाती है, संसार की असारता की चर्चा नहीं है प्रत्युत संसार में अधर्म की ओर ध्यान दिलाया गया है, अपनी दीनता के स्थान पर मन की प्रबलता को ही बार-बार भगवान् के सामने रखा है। 'पत्रिका' में पश्चात्ताप नहीं मिलता, विश्वास है; शिकायत नहीं है, निवेदन है; संसार से वैराग्य नहीं, सम्यग् दृष्टि है, भगवान् की लीला नहीं गाई गई, स्तुति की गई है। सूर का मानो भगवान् से नया ही परिचय हुआ था इसलिए उनके हृदय में बहुत आवेग है, उनको बहुत कुछ कहना है, सब कुछ सजा बनाकर; परन्तु तुलसी तो भगवान् के अपने हो चुके थे उनको आनन्द के गीत गाने हैं और बार-बार इसी स्थिति की ('विमल भगति रघुपति की')

कामना करनी है—वे आनन्द से गाते हैं और मुसकराते हैं, कभी शिकायत कर देते हैं संसार की या मन की, कभी मना लेते हैं भगवान् के दूसरे सेवकों को; उनका विश्वास उनके सहजारुण ओठों पर झलक रहा है.—

मारुति मन, रुचि भरत की लखि लखन कही है।
कलि-कालहूँ नाथ ! नाम सो प्रतीति-प्रीति एक किंकर की निबही है
सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।
कृपा गरीब निवाज की, देखत गरीब को साहब बाँह गही है।
बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है।
(२७६)

(२)

(१) विनयपत्रिका का प्रारंभ विनय के पदों से हुआ है, परन्तु यह विनय तुलसी के इष्टदेव की न होकर दूसरे-दूसरे देवों की है। प्रथम पद में 'मुद-मंगल-दाता' 'विद्यावारिधि बुद्धिविधाता' गणेश जी की वन्दना है, और दूसरे में 'लोक प्रकासी' 'तेज प्रताप-रूप' सूर्य भगवान की स्तुति है। गणेश या सरस्वती की उपासना ग्रन्थ-रचना से पूर्व निर्विघ्न समाप्ति के लिए सभी मध्यकालीन कवि किया करते थे। सविता या सूर्य विवेक अथवा सम्यक् ज्ञान का प्रतीक होने के कारण वेद में भी स्तुत्य ठहराया गया है। तदनन्तर शिवस्तवन है और बहुत ही बड़ी मात्रा में। इसके कई कारण जान पड़ते हैं। एक तो सीधी-सादी बात है कि गोस्वामी जी ने शैवों और वैष्णवों के झगड़े को मिटाकर उनमें समझौता कराने का सफल प्रयत्न किया है। परन्तु दो विशेष कारण भी हैं। प्रथम यह कि भगवद् भक्ति से मन को बहकाने वाला देव काम है— मन में अनेक प्रकार की कामनाएँ जगती हैं, जिनमें स्त्री विषयक तथा यशोविषयक मुख्य हैं— शिवजी काम के शत्रु हैं, यदि उनकी स्तुति की जावे तो भक्ति का सबसे बड़ा विघ्न दूर हो सकता है; तुलसी ने इसीलिए शिव को इतना महत्व दिया है[१] और माया के 'काम' रूपी रूप के अपहरण[२] की

१. देहु कामरिपु रामचरनरति। (३)
देहु कामरिपु रामचरनरति। (७)
देहि कामारि श्रीरामपदपंकजे
भक्ति मनवरत गतभेदमाया। (१०)
२. हरहु निज माया। (६)

प्रार्थना की है । द्वितीय यह कि शिव स्वयं राम के बड़े भक्त हैं, उन्होंने राम की सेवा के ही लिए हनुमान[1] का जन्म लिया था, हनुमान् उसी प्रकार काम के शत्रु (कामजेतामणी), विविध शास्त्रों के ज्ञाता (विश्वविद्यामणी), अशुभ विग्रह तथा 'मंगलागार' है[2] । रामभक्ति के लिए राम के अनन्य भक्त हनुमान की उपासना अनिवार्य है— वह उनके 'वानराकार' का ध्यान हो या 'विग्रह-पुरारी' का ।

(२) तदनन्तर देवी कालिका (१५, १६), गंगा (१७-२०), यमुना, काशी, चित्रकूट की स्तुति है। गोस्वामी जी ने अबतक मानव देहधारी जितने देवों का गुणगान किया था उनसे दो बातों की कामना की है—एक तो है 'विमल भगति रघुपति की' और दूसरी है उस देव विशेष का वह गुण जिसके कारण वह प्रसिद्ध है यथा गणेश से सद्बुद्धि, शिव से कामविजय आदि। इस प्रकार उनका यह मत है कि भिन्न भिन्न देवता 'कोसलाधीस जगदीस जगदेकगृहित अमितगुन' भगवान् राम के अंश, कला या गण विशेष है—देवों की सामर्थ्य भी रघुपति की कृपा भर ही निर्भर है, जो गुण भिन्न भिन्न देवों में मिलते हैं वे सब के सब इकट्ठे अपने मूल स्रोत भगवान् राम में ही हैं। तीर्थ आदि के गुणगान में मन का शुद्ध आह्लाद है, कामना यदि कोई है तो यही कि उस स्थान पर निवास करके राम नाम जपते हुए अपने जीवन को सफल बनाएँ[3] ।

(३) अब राजाराम की राजसभा आती है, पुस्तक का वास्तविक प्रारंभ यहीं (पदसंख्या २५) से समझना चाहिए। यद्यपि इससे पूर्व भी एक पद (सं० १८) 'जयति' से प्रारंभ हुआ है, फिर भी समोचित जय-जयकार का क्रम यहीं से चलता है मानो राजसभा में प्रवेश करते ही किसी ब्राह्मण या ऋषि ने आशीर्वाद प्रारंभ कर दिया हो, या कोई

१. रघुबीर-हित देवमनि रुद्र अवतार। (२५)

२. पदसंख्या २५ से २९ तक

३. (i) तुलसी तव तीर-तीर, सुमिरत रघुबंश बीर
बिचरत मति देहि...। (१७)

(ii) तुलसी बसि हरपुरी राम जपु जो भयो चहै सुपासी। (२२)

(iii) तुलसी जो राम-पद चहिय प्रेम। सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम। (२३)

चारण मे राजपुरुषों के सभा मे प्रवेश करते ही जयघोष करने लगा हो—पाँच पदों का ऐसा ही प्रारंभ है और केवल प्रारंभ ही क्यों प्रत्येक पद में सभी नवीन बन्ध 'जयति' से ही चलते हैं। हनुमान की स्तुति म पूरे १७ पद हैं, फिर लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न की एक-एक पद में वंदना है, सीता की विनय में २ पद लगाये हैं—उस दरबार में जिसका जैसा स्थान है, वैसा ही सम्मान[1] कवि ने भी किया है। आगे के १६ पद (४२ से ६१ तक) विनय पत्रिका के सार हैं, इनमें राजराजेन्द्र जानकीनाथ की स्तुति सुन्दर से सुन्दर तथा मनोहर से मनोहर शब्दावली में की गई है—सस्कृत शब्दों का अकृत्रिम प्रवाह, सहजोद्भव विशेषणराजि, चरणों की लय और गति कवि की तन्मयता का परिचय देती है—यदि ये पद समझ में एक दम न आवें (यद्यपि सामान्य संस्कृतज्ञ के लिए भी कठिन नहीं है) तो भी इनके अन्तर्निहित सौन्दर्य से मन में एक सहज उल्लास का आविर्भाव होता है।

(४) आगे के पदों में प्राय या तो राम की स्तुति है या मन अथवा जीव को सीख। तुलसी की दार्शनिक विचारधारा का अनुमान इस ग्रन्थ में ऐसे ही पदों से लगता है। मन से एक ही बात कहनी है रामनाम का जप करो (६५-६), इसके बिना अन्यथा कल्याण नहीं हो सकता। परन्तु मायाग्रस्त जीव को माया की क्षणभंगुरता तथा निस्सारता बतलाकर उसको इस संसार रात्रि के मोह स जगाकर ज्ञान भानु का प्रकाश दिखाना है, अत. जीव के हेतु कहे गये पदों में वेदान्त के दृष्टान्तों द्वारा 'जग-जामिनी' की बार-बार चर्चा है (७३-४)। कवि का मत है कि यह जागरण भगवत् कृपा से ही हो सकती है और जगने का अर्थ होगा मूढ़ता (अर्थात् मायाविषयक रुचि) का त्याग एव साथ ही साथ रामचरण में अनुराग[2]। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से संचित मोह मल के समान आत्मा पर आवरण बना हुआ

---

१. मानस में लक्ष्मण तथा भरत को जो उच्च स्थान मिला है वह यहाँ न मिल सका, 'पत्रिका' में तो राम के अनन्तर दूसरा स्थान उनके अनन्य सेवक हनुमान का है, कारण कदाचित् यह हो कि पवन पुत्र में शुद्ध भक्ति है, लक्ष्मण आदि में भक्ति के साथ सामाजिकता भी काफी मात्रा में मिल गई है।

२. जानकीस की कृपा जगावती, सुजान जीव,
जागि, त्यागि मूढ़ताऽनुराग श्री हरे। (७४)

है जिसके कारण सब कुछ विपरीत ही जान पड़ता है; शास्त्रों में इस 'मोहजनित मल' को छुड़ाने के लिए अनेक उपाय बतलाये गये हैं, परन्तु तुलसी के विचार से यह मल केवल 'रामचरण-अनुराग' से ही धोया जा सकता है।[1] जीव को समझाने वाली इन बातों पर शंकराचार्य का प्रभाव स्पष्ट है और कबीर की वाणी से इनकी समानता खोजी जा सकती है; तुलसी के यहाँ जागरण का अर्थ है संसार की सारी आशाओं को छोड़कर उसी भाव से भगवच्चरणों में अनुरक्ति।

(५) जिन पदों में राम की स्तुति है उनके दो विषय मुख्य हैं— अपनी दीनता तथा भगवान् की कृपालुता। यह परम्परा का पालन ही समझना चाहिये, दूसरे भक्त कवियों ने भी यही किया है—मूढ़ता (६०) मंदता (६२), अघ (६५) अवगुन (६६) आदि भक्त के पेटेण्ट गुण हैं, इनके सहारे गरीबनिवाज (६६) पतितपावन (१०१) कृपानिधि (११०) भगवान के अनुग्रह का यह विशेष अधिकारी बन सकता है। दूसरे भक्तों के समान तुलसी ने भी भगवान को उनके विरद का ध्यान दिलाया है (६४) परन्तु अधिक नहीं, प्रायः तो वे अपनी ही भूल स्वीकार करते हैं—तुमने तो मेरे साथ बहुत कुछ किया, देवों के लिए दुर्लभ यह मानव शरीर दिया जिससे मैं अनेक साधन कर सकता था (१०२) फिर भी मैंने ऐसे कर्म किये जिनसे स्वप्न में भी सद्गति नहीं मिल सकती (११७) तुम्हारी कृपा से अब मैं जग गया हूँ (१०५) तुम्हारी ही कृपा से अब संसार मुझको बाँध न सकेगा (१८८) मेरा मन तुम्हारे चरणों में लग रहा है (२४३)।

(६) परन्तु बार-बार बहकने का कारण क्या है? यही जिसकी शिकायत अर्जुन ने योगिराज कृष्ण से की थी—मन बड़ा चंचल तथा बलवान है, इसलिये उसको वश में करना वायु के समान अति दुष्कर है[2]। मन को बहुत समझाया जाता है अनेक प्रकार से (८३-६०) परन्तु इस मन को विश्राम नहीं है यह सहज सुख को छोड कर इन्द्रिय-जन्य सुख के पीछे चक्कर काटता रहता है (८८),

---

१. तुलसिदास ब्रत, दान, ज्ञान तप सुद्धिहेतु स्तुति गावै।
रामचरन अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै॥ (८२

२. चञ्चलं हि मनो कृष्ण! प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्य संयमनं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

यह ऐसा पागल है कि रामभक्ति रूपी सुरसरिता को छोड़ कर ओस कणों से प्यास बुझाना चाहता है (६०)। मनुष्य कितना ही प्रयत्न करे परन्तु इस अतिशय प्रबल तथा अजय मन को जीत नहीं सकता। इसको भगवान की प्रेरणा से ही इन्द्रियार्थों से हटा कर वश में करना संभव है[१]। वस्तुतः मन को वश में करना आवश्यक नहीं। प्रत्युत मन जिस प्रकार विषय में अनुरक्त रहता है उसी तल्लीनता से राम में अनुरक्त हो[२] तभी कल्याण है। और इसका साधन एक ही है भगवान के चरणों में एक दम गिर पड़ना[३], तभी मन को यह पवित्र विश्वास होगा कि प्रभुपद से विमुख होकर स्वप्न में भी सुख नहीं है[४] और मन राम चरण कमल का प्रणधारी मधुकर बन सकेगा[५]। ध्यान रखना होगा कि भक्ति के इन पदों को आत्मविषयक हम नहीं मान सकते; जिस समय इनकी रचना हुई थी उस समय तुलसी का मन के साथ द्वन्द्व न चलता होगा क्योंकि उस समय तक तो निश्चय ही उनके हृदय में अटल प्रतीति बस गई थी, अस्तु ये पद भक्ति की ओर अग्रसर होने की प्रारम्भिक अवस्था की सूचना देते हैं--गोस्वामी जी ने अपने अनुभव से तथा दूसरे लोगों को देख कर जो बाधा तथा साधन देखे उन्हीं को पाठकों के लिए संचित कर दिया। यही कारण है कि विनय-पत्रिका के ये पद सामान्य भक्त के हृदय में भी एक पवित्र गूँज उत्पन्न कर देते हैं।

(७) गोस्वामी जी मुख्यतः भक्त थे कोरे ज्ञानी मात्र नहीं। ज्ञानी (या दार्शनिक) जिस तर्क द्वारा ब्रह्म की चर्चा करते हैं उससे उनके

१. हौं हारयो करि जतन विविध बिधि, अतिसय प्रबल अजै।
   तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥ (८९)
२. यों मन कबहूँ तुमहिं न लाग्यो।
   ज्यों छल छाँड़ि सुभाव निरन्तर रहत विषय अनुरागो। (१७०)
३. जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे?
   काको नाम पतित पावन जग? केहि अति दीन पियारे? (१०१)
   कहाँ जाउँ कासों कहौं, और ठौर न मेरो? (१४६)
   नाहिंन आवत आन भरोसो। (१०३)
   कहाँ जाउँ? कासों कहौं? को सुनै दीन की? (१७६)
४. उपजी उर प्रतीति, सपनेहुँ सुख प्रभुपद विमुख न पैहौं। (१०४)
५. मन-मधुकर पन करि तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं। (१०५)

अंतःकरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनके मनमें विषय वासना जागी रहती है और कर्मवश कोटि कोटि योनियों में उनको घूमते रहना पड़ता है[१]। ज्ञानी भी यह जानता है कि संसार देखने में ही सुन्दर है, वास्तविकता में बड़ा भयंकर है।[२] परन्तु 'रघुपति भगति और सत संगति' के बिना सबको इस प्रकार का विश्वास नहीं होता। वेद शास्त्रों में ज्ञान भक्ति आदि[३] जिन पारमार्थिक साधनों का उल्लेख है वे सबके सब सत्य हैं निस्सन्देह, परन्तु मन से वासना नहीं जाती,[४] वह केवल भगवत कृपा से ही मिट सकती है[५]। यह वासना क्या है ? द्वैत[६] की भावना अर्थात् अपने और पराये का भेद[७] जिससे मेरा-तेरा यह झगड़ा होता है[८] जो सारे दुख का कारण है।

यहाँ द्वैत से गोस्वामी जी का अभिप्राय ठोस व्यावहारिक है, दार्शनिक कदापि नहीं। अपने पराये के साथ ही सुख-दुख, हर्ष विषाद, विस्तार-संकोच सब चिपटे हुए हैं।[९] आत्मोद्धार का एक मात्र यही राज-पथ है[१०] सभी विघ्नों से रहित, जो भगवान की कृपा से ही

---

१. वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।
   निसि गृह मध्य दीपकी बातन तम निवृत्त नहिं होई।
   जब लगि नहिं निज हृदि-प्रकाश-अरु-विषय आस मन माहीं।
   तुलसी दास तब लगि जग जोनि भ्रमत, सपनेहु सुख नाहीं। (१२३)
२. मन विचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी। (१२१)
३. ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य, झूठ कछु नाहीं। (११६)
   बहु उपाय संसार तरन कहँ विमल गिरा श्रुति गावै। (१२०)
४. यदि वासना न उर तें जाई। (११५)
५. तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम यह भरोस मनमाहीं।
६. द्वैत रूप तम कूप परौं नहिं अस कछु जतन विचारी। (११३)
   तौ कत द्वैत-जनित संसृति दुख, संसय, सोक अपारा। (१२४)
   द्वैत मूल, भय सूल, सोगफल, भवतरु टरै न टारयो। (२०२)
७. गई न निज-पर-बुद्धि, शुद्ध ह्वै रहे न राम लय लाये। (२०१)
८. तुलसिदास मैं मोर' गये बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै। (१२०)
९. देखि आन की विपति परम सुख, सुनि सम्पति बिनु आगि जरौं। (१११)
१०. गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो। (१७३)

प्राप्त होता है। राम 'बिनु कारन पर-उपकारी'[1] (१६६) और हेतु-रहित कृपालु' (११४) हैं, यदि उनसे सच्चा प्रेम करना है तो वह भी 'हेतु रहित' (१०३) होना चाहिये। इसलिए सगुण उपासक भक्त मोक्ष की भी इच्छा नहीं करते[2]। वे भगवान की 'अविरल भगति विसुद्ध' (उत्तर काण्ड, मानस) को चरम लाभ मानते हैं। 'पत्रिका' में गोस्वामी जी ने किसी दार्शनिक सिद्धान्त का खंडन नहीं किया, ज्ञान-भक्ति का झगड़ा भी नहीं चलाया, तर्क-वितर्क तो स्वयं भ्रम है[3], इसको भगवान की कृपा से छोड़कर जब विमल विवेक की प्राप्ति होती है तभी सहज सुख मिल सकता है। संसार के बन्धन अपने आप शिथिल पड़ जाते हैं, मन भगवद् भजन तथा साधु-संगति में लगने लगता है—यही जीवन का फल है।

(३)

(१) कला-सौन्दर्य की दृष्टि से भी विनय पत्रिका किसी से पीछे नहीं रहती, और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इसमें नाद सौंदर्य गोस्वामी जी के अन्य ग्रन्थों से अधिक है। भगवान् की स्तुति में तन्मय होकर जब भावविभोर भक्त गाने लगता है तो सरस्वती उसकी वशगा बन कर उसके संकेत पर नाचती है। विमल संगीत की प्रत्येक तान और लय मानस में पवित्र भावों का स्फुरण करने लगती है, ऐसा जान पड़ता है मानों कवि के साथ हम भी अपनी सभी वासनाओं और कामनाओं को अंजलिगत करके भगवान् राम के पाद पद्मों पर समर्पित करने में कृतकृत्य हो गये। इस प्रकार का सौंदर्य अनेक स्थलों पर भिन्न-भिन्न रागों में प्रस्फुटित हुआ है—

(क) श्री रामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणं। (४५)
(ख) जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव...... । (७४)
(ग) जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ? (१०१)
(घ) यो मन कबहूँ तुमहिं न लाग्यो। (१७०)

---

१. अस प्रभु दीन बन्धु हरि, कारन रहित दयाल। (बाल काण्ड, मानस)
कारन बिनु रघुनाथ कृपाला (अरण्य काण्ड)
बिनु कारन दीन दयाल हितं। (लंका काण्ड)

२. सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं।
तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं॥ (लंका काण्ड)

३. तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै। (१११)

(ङ) नाहिंन आवत आन भरोसो। (१७३)

(च) राम कहत चलु राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे। (१८६)

(छ) मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोया। (२४५)

कितने उदाहरण दिये जा सकते हैं? जहाँ प्रत्येक धातु खंड कांचन हो वहां कसोटी क्या निर्णय देगी? यदि सात्विक भाव से भगवान् की अर्चना में गाया जावे तो विनय पत्रिका का प्रत्येक पद व्यक्तिभेद तथा भाव भेद से दूसरे पदों से भिन्न होता हुआ भी एक ही दिव्य आनन्द की सृष्टि करता है। विनय पत्रिका गीतकाव्य है, संगीत की यह विशेषता साहित्यिकों की दृष्टि में भी विशेष महत्व रखती होगी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भक्ति तथा संगीत के इस मणिकाञ्चन संयोग से अभिभूषित जितने पद गोस्वामी जी के मिलते हैं उतने हिन्दी के किसी अन्य कवि या कवियित्री के नहीं।

(२) 'पत्रिका' का दूसरा मुख्य गुण इसकी भाषा है। यद्यपि आदि से अन्त तक भाषा का एक ही स्थिर रूप नहीं है, फिर भी देवार्चन में देववाणी की मनोरम छटा मानो दैवी प्रवृत्तियों के जगाने का ही काम करती है। तन्मयता वाले पदों में भी भाषा दोनों प्रकार की हो सकती है, परन्तु जहाँ स्तुति है वहाँ संस्कृत शब्दावली का साम्राज्य भव्यता के लिए अनिवार्य रूप से छागया है, भगवान् राम की स्तुति में इस बात पर और भी अधिक ध्यान जाता है। वाक्य तक संस्कृत के से हैं, समासों का भी वैभव देखने योग्य है। परन्तु जहाँ तक रचना का सम्बन्ध है वह संस्कृत की नहीं है—उस पर संस्कृत का प्रभाव है, यह संस्कृताभास है। फलतः संस्कृतज्ञ इस भाषा में दोष निकाल सकते हैं, और असंस्कृतज्ञ इसके संस्कृतपन से दंग आ सकते हैं। कुछ उदाहरण देखिए :—

(क) येन वर्त्त हुतं दत्त मेवाखिलं, तेन सर्वं कृतं कर्मजालं।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृतम निशामनवद्यमवलोक्य कालं॥
(४६)

(ख) वेदबोधित-कर्म-धर्म-धरणी-धेनु-विप्र-सेवक-साधु-मोदकारी।
(४३)

(ग) जयति निगमागम-व्याकरन-करनलिपि, काव्य-कौतुक-कला-कोटि सिंधो। (२८)

कुछ शब्दों में विभक्तियाँ संस्कृत की मिलेंगी—विशेषतः सम्बोधन में तथा द्वितीय पुरुष के एक वचन की धातुओं, में—जयतु, पाहि,

विष्णो, गायन्ति, जयति, सिन्धो। यह संस्कृतपन जो केवल स्तुति में पाया जाता है अन्यथा के ही लिए है, इससे संगीत का सौन्दर्य भी बढ़ जाता है। गोस्वामी जी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे फिर भी उन्होंने संस्कृत व्याकरण के अधीन अपनी भाषा को नहीं होने दिया। आगे के पदों में सामान्य विनय है यहाँ संस्कृत शब्दावली तक का यह प्रश्न नहीं आता—

मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो।
या के लिए सुनहु करुनामय मैं जग जनमि जनमि दुख रोयो ॥२४५॥

(३) विनयपत्रिका के भव्य स्थलों पर अलंकारों की प्रचुरता पर भी पाठकों का ध्यान गया है। यों तो गोस्वामी जी का साहित्यिक रूप 'मानस' में भली भाँति स्पष्ट हो चुका था, परन्तु रूपक का मोह वे यहाँ भी न छोड़ सके रूपक मानस के समान बड़े-बड़े तो नहीं हैं परन्तु संख्या में कम न होंगे। 'कामधेनु कलि कासी' (२२) 'वन-उमाकांत (१४), आदि तो प्रसिद्ध सांगरूपक हैं। स्थान-स्थान पर आनेवाले छोटे रूपकों में विशेषता यह है कि सौन्दर्य साहित्यिक न होकर आध्यात्मिक है, रूप और आकार पर ध्यान नहीं दिया गया गुण और शक्ति को आधार माना है। शिव के लिए 'मोहतमतरणि' (१०), 'मोहमूषक-मार्जार' (११), 'अज्ञान-पाथोधि-घट सम्भव' (१२), आदि; या हनुमान के लिए 'जलधि-लंघन सिंह' (२५), दिव्य-भूम्यजना-मंजुलाकर मणे (२६) आदि से मन के ऊपर कोई चित्र नहीं खिंचता प्रत्युत एक उत्साह आ जाता है—औ इस प्रकार के रूपक 'पत्रिका' में अनेक हैं। दृष्टान्तों की कमी नहीं, उत्प्रेक्षा भी अनेक स्थलों पर है। आगे चलकर ज्यों ज्यों स्तुति के स्थान पर विनय आती गई है त्यों त्यों अलंकारों का सौन्दर्य कम होता गया है, अर्थ में गम्भीरता आती गई है; आत्म निवेदन ने स्तवन को गौण बना दिया है।

(४) इस स्पष्ट है कि गोस्वामी जी की यह अंतिम रचना हिन्दी साहित्य में एक नई चीज है, भक्ति की दृष्टि से तो गोस्वामी जी की रचनाओं में ही नहीं समूचे हिन्दी-साहित्य में इसको प्रथम स्थान मिलना चाहिए। इसकी शैली और व्यवस्था नितान्त मौलिक है। कवि की प्रतिभा इसमें विशेष रूप से निखरी है। 'विनयपत्रिका' शुद्ध पारमार्थिक काव्य है इसमें न विचार विवेचन है, न कोई प्रचार भगवान् राम के सामने भक्त तुलसी ने जो शुद्ध निश्छल निवेदन किया है वह वास्तविक तथा सत्य है उससे तुलसी के व्यक्तित्व का जितना परिचय मिलता है उतना दूसरे किसी प्रमाण से नहीं।

सूर की राधा

दुर्लभ जन्म लहब वृन्दावन, दुर्लभ प्रेम-तरग ।
ना जानियें बहुरि कब ह्वै है, स्याम तिहारी सग ॥

आभीर सस्कृति के लोकरत्न 'कान्ह' और 'राही' जब अकस्मात् आर्यजाति को मिल गये तो आर्यजाति ने उनके 'कान्ह' और अपने 'कृष्ण' में एकरूपता खोजकर दोनों का एकीकरण कर लिया, परन्तु इनके इतिहास में 'राधा' जैसी कोई नारी थी ही नहीं, अत 'राही' तथा 'राधा' के एकीकरण के लिए आर्यजाति को उस समय तक प्रतीक्षा करनी थी जबतक कि भक्ति-सुधानिधि की सबसे उज्वल मणि के रूप में राधा स्वयं ही वीचिविक्षोभविह्वला के समान व्रज के कछारों में न आ पड़ी। आभीर कान्ह अपनी जाति के बीच गायें चराकर जीवन निर्वाह करते थे और वे सबसे चचल तथा नटखट, राही से उसी समय उनका मन मिल गया, परन्तु कुछ समय पीछे उनके जीवन में एक परिवर्तन आया जिसने उनको राजा बना दिया, फिर उनका अपनी जाति से मानो नाता ही टूट गया, राही ने यह सब कुछ अपनी आँखों से देखा और मन से सहा, उसको विश्वास था कि प्रेम का परिणाम भला होता है—कान्ह अवश्य उसको अपने साथ ले जावेंगे, परन्तु वह आजीवन प्रतीक्षा ही करती रही और मरणोपरान्त भी उसी विश्वास के साथ अपने प्रिय का पथ देखती रही है। आज भी जब एक व्यक्ति, युवक या युवती, दूसरे के साथ विश्वासघात करता हुआ उसका दिल तोड़कर उसको तड़पता हुआ छोड़ जाता है, तो मुझको ऐसा लगता है मानो 'राही' की अमर आत्मा अवतरित होकर इस भाग्यवाम अभागे को साहस बँधा रही हो—"सावधान, प्रणय-पथ का सम्बल है विश्वास, वासना का जो उद्वेग मन में उठ रहा है उसको खारे अश्रुजल से धोकर ही तुम अपने हृदय को प्रेमामृत का उपयुक्त पात्र बना सकते हो, देखो निश्वासों की ताप से भी इसकी शीतलता में व्याघात न पहुँचे, हमारा आदर्श तुम्हारे सामने है, तुम जैसे असंख्य प्रणयव्रतियों के पथ-निर्देश के लिए ही भगवान् ने मुझे भेजा था और

उसी कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए ही तो मैंने मोक्ष की कामना न करके अन्तरिक्ष में घूमते रहना पसन्द किया है।"

काव्य में राधा को स्थायीरूप से जयदेव ही लाये थे, उनकी राधा 'कोकिल कूजित कुञ्ज कुटीर' में 'पीन पयोघर भार-भरेण' 'नीलकलेवर पीतवसन वनमाली' का सराग परिरम्भण करने की 'विलासकला' में, मुग्धा होने पर भी, दक्ष है, 'अधर-सुधा पानत सम्मोहित करनेवाली उस नितम्बिनी' का 'सुकृतविपाक' 'रति विपरीत' में तड़ित के समान मुरारि के उर पर सुशोभित होना ही है। विद्यापति में भी राधा का यही रूप है, 'नवयुवती' 'केलीकलावती,' वह कुल-कामिनी थी परन्तु कान्ह के 'मधु-सम वचन' से, लुभाकर वह कुलटा बन गई और प्रेम के मन्द परिणाम पर जीवन भर पछिताती रही— 'कुल-गुन-गौरव' तथा 'सति-जस अपजस' को 'मदनमहोदधि' के वेग में तिनके के समान बहा देने से और क्या मिल सकता था? विद्यापति में जयदेव के समान विलास तो है ही, प्रेमाभिधेय काम की असफलता तथा तज्जन्य पश्चात्ताप की भी कमी नहीं, राधा मुग्धा से लेकर प्रौढ़ा तक के रूप में मिलती है, उसने जो कुछ किया वह दूती के बहकाने से ही, वह मानो बदनाम हागई है इसलिए न संसार को मुख दिखला सकती है और न अपने बचे हुए जीवन को सुख से बिता सकती है। विद्यापति के समकालीन चण्डीदास ने जिस अनन्य 'पिरित रस' के गीत गाये थे उसमें 'कामगन्ध नाहि, 'कुल शील जाति मान' सबकुछ उसी 'आमार प्राण' 'बन्धु' को समर्पित कर देने पर किस कलंक का डर, किस अच्छे बुरे का विवेक —

कलकी बलिया डाके सब लोके,
ताहाते नाहिक दुख।
तोमार लागिया कलंकेर हार,
गलाय परिते सुख।
× × × ×
सती वा असती तोमाते विदित,
भाल मन्द नाहि जानि।
कहे चण्डीदास पाप पुण्य मम,
तोमार चरण खानि।

चण्डीदास का व्यक्तिगत जीवन राधा के जीवन में भली भाँति

झलकता है; यहाँ मिलन की घड़ियां तो बहुत थोड़ी हैं—मिलन तो मानो हुआ ही नहीं; और यदि मिलन के कुछ क्षण जीवन में आये भी तो वे आशंका से खाली नहीं थे, विच्छेद[1] के डर से मिलन में भी दोनों रोते ही रहे; और एकत्र[2] रहकर भी प्रिया ने प्रिय के शरीर का स्पर्श तक नहीं किया। चण्डीदास का प्रेम 'किछु किछु सुधा, विषगुण आधा' है, वस्तुतः प्रेम में सुख नहीं मिलता फिर भी दुःख के डर से प्रेम का त्याग उचित नहीं[3]; प्रीति की कसौटी ज्वाला[4] ही है—जिसके मन में जितनी ज्वाला अधिक है उसकी प्रीति भी उतनी ही तीव्र होती है; सुख के लिए प्रेम करनेवाली को चण्डीदास ने सावधान कर दिया है :—

> कहे चण्डीदास, शुन विनोदनी, सुख दुख दुटि भाइ,
> सुखेर लागिया जे करे पिरीति, दुख जाइ तार ठाँइ।

इस भाँति 'सौंदन्य पिपासा' तथा विलास की प्रतिमूर्ति राधा यहाँ आकर हृदयाग्र ज्वाला की मूर्तिमती प्रतिमा बनगई, जिसने अपनी गूढ़ वेदना से समस्त कलुष तथा वासना को भस्मसात कर लिया; अब वह परमार्थ में भी आदर्श बन सकती थी।

सूर की राधा बचपन से ही हमारे सामने आने लगती है। कृष्ण कुछ बड़े हो गये थे, माखन चोरी कर चुके थे, गाय चराने जाया करते थे, कालिय नाग आदि की घटनाओं से ब्रज में उनकी प्रसिद्धि हो गई थी, ब्रज युवतियाँ सुन्दरता के इस सागर को देखकर अनेक बार अपना "बुद्धि विवेक" खो चुकी थीं; अभी राधा एक सामान्य गोपी है। उसका कृष्ण से कोई विशेष परिचय नहीं। परन्तु एक दिन ब्रज को बाल मण्डली के साथ खेलते हुए कृष्ण राधा की ओर[5] देखते हुए चले गये। वह क्षण राधा के जीवन में एक नया रंग ले आया, जहाँ भी वह जाती है उसे श्याम की वह 'मृदु मूरत' दिखाई पड़ जाती है—न जाने श्याम जान बूझ कर उसकी आँखों के सामने

---

१ दुहुँ कोरे, दुहुँ काँदे विच्छेद भाविया।

२ एकत्र थाकिय, नाहि परशिव, भाविनी भावेर देहा।

३ प्रेमे दुःख आछे बलिया प्रेम त्याग करिवार नहे। (रवीन्द्र नाथ ठाकुर)

४ जार जत ज्वाला तार तत्‌इ पिरीति।

५ ब्रज-बालकन सँग खेलत डोलत, हाथ लिए चकडोरि।
सूरश्याम चितवत गए मो तन, तन मन लियो अँजोरि॥ १२८८।

बार-बार आते हैं, या सयोग अपने गर्भ में कुछ विशेष रहस्य छिपाये हुये हैं। राधा के मन में उल्लास था, ईश्वर ने उसको गोरा रग और विशाल नेत्र दिये थे, उसकी माता उसके माथे पर रोली का लाल टीका लगा देती[1] और पीठ पर लटकने वाली झालरदार चोटी में फूल गूँथ देती थी। गोरे रंग पर आसमानी साड़ी में बादलों के बीच बिजली के समान राधा की छवि एक दिन कृष्ण की आँखों में चकाचौंध पैदा कर गई; दोनों के नेत्र एक क्षण के लिए मिले फिर नीचे हो गये, और फिर फिर मिलने के लिए फुदकने लगे। अवसर पाकर कृष्ण ने पूछा—"सुन्दरी, तुम कौन हो ? तुम्हारा घर कहाँ है ? ब्रज में कभी तुमसे मिलना नहीं हुआ।" राधा में यौवन छिपकर झाँक रहा था, उसने विभ्रम से अनजानी मुद्रा बना कर उत्तर दिया—"हमें क्या पड़ी है तुम्हारे ब्रज आने की, हमारा ही इतना भव्य भवन और विशाल प्रदेश है (तुम किसी दिन आकर देखो तो तुम्हारी भी आँखें खुल जायें)......हम तो यहीं सुन लिया करते हैं कि नंद के पुत्र घर घर से माखन और दधि चुरा चुरा कर खाते रहते हैं।" कोई हमारे विषय में सब कुछ जानता है और बहुत दिनों से जानना चाहा करता है—इससे बढ़कर मन को भुलावे में डालने वाली कोई दूसरी बात नहीं, राधा और कृष्ण दोनों ही इसके शिकार हुए, प्रथम मिलन में ही दोनों ने चुप-चाप 'संग मिलि जोरी' की कल्पना की—क्या ही अच्छा हो अगर हम साथ साथ खेला करें। नेत्रों के मिलने पर मन मिल गया, और उनको ऐसा लगा मानो वे तो जन्म जन्मान्तर से एक दूसरे के परिचित हैं। यह 'प्रथम स्नेह' था कृष्ण ने चलते-चलते राधा से कहा—'कभी हमारे यहाँ खेलने आओ न) मैं ब्रज ग्राम में रहता हूँ नन्द के घर, द्वार[2] पर आकर पुकार लेना' मेरा नाम 'कान्ह' है,......तुम बड़ी भोली-भाली लगती हो, इसलिए मन[3] तुम्हारा साथ करना चाहता है।"

राधा के मन में खलबली मचने लगी, ऐसा लगता था मानो एक बार हाथ में आकर कुछ छिन गया हो। वह अपने घर को चलने

१ औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी॥ १२६०।

२ खेलन कबहु हमारे आवहु, नन्द-सदन, ब्रज गाउँ।
द्वारे आइ टेरि मोहि लीजौ, कान्ह हमारो नाउँ॥ १२६२।

३ सूधी निपट देखियत तुमकौं, तातैं करियत साथ॥ १२६२॥

लगी तो मार्ग में सखी से बोली—"बड़े आये घर वाले, किसी को क्या गर्ज पड़ी है जो इनके घर जाय"[1]। प्रेम का प्रारम्भ उस समय समझना चाहिए जब मन के प्रगट उल्लास को छिपाने का व्यर्थ प्रयत्न करते हुए अन्तरंग सखी से भी झूठ बोला जाता है—बुद्धू कहीं की, यह भी कोई बताने की बात है हमारे परस्पर के व्यवहार से भी इतना अनुमान नहीं लगा सकती कि हम एक दूसरे को प्रेम करते हैं। दिन बीते और 'नये प्रेम रस पागे' राधा और श्याम अपने अनुराग[2] में डूबकर हर तीसरे दिन सैर करते हुए दिखाई पड़ते हैं। इस बीच राधा यशोदा के घर भी आई, श्याम ने माता से उसका परिचय[3] कराया; नन्दरानी को राधा बड़ी अच्छी लगी, वह अपने हाथ से 'राधा कुँवरि' को सजाती है और श्याम-राधा की इस जोड़ी को मन में मोद भरकर देर तक देखती रहती है। प्रीति की यह कथा छिपी न रह सकी, श्याम और राधा बहुत से बहाने बनाकर मिलने लगे तो सखियों के मन में यह बात खटकी, वे राधा के इन ढंगों[4] पर ताने देने लगीं—अपने घर में तुमसे बैठा भी नहीं जाता और अगर बाहर आना है तो क्या बिना बने ठने[5] नहीं आ सकती। सभी बातें बचपन कहकर टाली भी तो नहीं जा सकतीं,[6] लोग संदेह की दृष्टि से देखते हैं और अंगुली उठाने लगते हैं। इस प्रकार चलते चलाते समय बीतता चला गया, राधा अपना सर्वस्व समर्पित कर बैठी, न उसके माता-पिता को इसमें कोई आपत्ति थी और न नन्द-यशोदा को। शरद् की रात्रि आई, वृन्दावन में रासलीला प्रारम्भ होगई, राधा का यहाँ भी मुख्य भाग था[7]—अगर दूसरी गोपियाँ भी कृष्ण को चाहती हैं तो चाहा करें, रास में वे मुख्य भाग तो मुझको देते हैं और सारे ब्रज में यह बात फैली हुई है कि कृष्ण राधा के वश में हैं,[8] इससे बढ़कर और

---

१ संग सखी सों कहति चली यह, को जैहै इनकै घर ।१२६४।
२ अंतर बन-बिहार दोउ क्रीड़त, आपु-आपु अनुरागे ।१३०४।
३ मैया री तू इनकौं चीन्हति, बारंबार बताई (हो)। १३१८।
४ राधा ये सँग हैं री तेरे ।१३२६।
५ कै बैठो रहि भवन आपनैं, काहे कौं बनि आवै ।१३५४।
६ लरिकाई सबही कौं नीकी, थारि बरस के पाँव ।१३८८।
७ सुनहु सूर रस-रास नायिका, सुन्दरि राधा नारी ।१५६२।
८ श्री राधिका सकल गुन पूरन, जाके स्याम अधीन ।१६७८।
स्याम काम-तनु-आतुरताई, ऐसे स्यामा भए री ।१६६१।

सौभाग्य क्या चाहिए ? सूर का कोमल हृदय यह मानने को तैयार नहीं कि राधा-कृष्ण का विवाह नहीं हुआ—विवाह और क्या होता है, कुंज-मंडप में सैर करते हुए घूमना ही तो[1] भांवरी हैं और प्रीति की ग्रन्थि ही तो विवाह का बन्धन है, इस प्रकार 'एक प्रान द्वै देह' होकर रास करना साक्षात् विवाह[2] ही तो है। कभी-कभी रूठना-मनाना चलता था, परन्तु प्रत्येक मिलन में नया और दूना उत्साह आजाता था; 'अनगिन भांति' राधा और कृष्ण ने क्रीड़ा करके ब्रजलोक को सुख दिया और सबकी मनोकामना को यथायोग्य पूरा किया।

यहीं राधा से एक भारी भूल हो गई, ऐसी भूल जिसका पश्चात्ताप हो नहीं सकता। कृष्ण कहते थे कि राधा उनकी है और संसार कहता था कि कृष्ण राधा के हैं, राधा ने इसका यह अर्थ समझा कि कृष्ण मानते हैं कि वे राधा के हैं—अगर उनके मन में तनिक भी द्विविधा होती तो स्पष्ट कह देते—'राधा, संसार हमारे तुम्हारे संबंध को गलत समझ रहा है, हमको अलग रहना चाहिए क्योंकि शायद हम लोग जीवन भर के लिए एक न हो सकें।' एक बार जब एक सखी ने कृष्ण के व्यवहार को सन्देह की दृष्टि से देखकर कहा कि यह प्रेम[3] दोनों पक्षों में समान नहीं है तो राधा को उस सखी पर 'रिस आ गई—मूर्खा, बोलना नहीं जानती तो चुप रह, वे बुरे हों या भले हों, हैं तो अपने ही[4], अगर हम भले हैं तो सब भले हैं[5] क्या तू यह समझती है कि कृष्ण मुझको कभी इस जीवन में भूल भी[6] सकते हैं, देख श्याम मेरी ओर देखकर ही एक विचित्र प्रकार से मुसकराया करते हैं।[7] सचमुच श्याम उस समय राधा के हो चुके थे, वैदिक विधि से विवाह तो नहीं हुआ था परन्तु इस सामान्य रीति

---

१ तब देव भांवरि कुंज-मंडप, प्रीति ग्रंथि हियैं परी।।१६६०।
२ जाकौं व्यास बरनत रास।
 है गन्धर्व विवाह चित्त दै, सुनौ बिबिध बिलास।।१६८३।
३ सजनी स्याम सदाई ऐसे।
 एक अंग की प्रीति हमारी, वे जैसे के तैसे।१८६६।
४ स्यामहि दोष देहु जानि माई
 वे जो भले बुरे तौ अपने...॥१९२३॥
५ आपु भलाई सबै भलेरी। १९०२।
६ तू जानति हरि भूलि गए मोहिं। (१६०२)
७ स्याम कछु मो तन ही मुसुकात। (१६६१)

के अतिरिक्त और कभी भी क्या रह गई थी; राधा का कृष्ण पर अनन्य अधिकार इसी से स्पष्ट हो जाता है कि राधा मान करती है तो कृष्ण उसको हर प्रकार से मनाते हैं, सिर चढ़ाकर घुमाने तक में उनको हिचकिचाहट नहीं। मोहन पर उसका कुछ ऐसा जादू हो गया था कि वे राधा के इशारे पर ही नाचते थे—अपना काम छोड़कर उसके साथ चले[1] जाते थे। जब बात यहाँ तक बढ़ गई तो एक दिन राधा ने कहा—यह भी कोई बात है भला आप जरा भी ध्यान नहीं रखते, मुझे बड़ी लज्जा आती है,[2] आप यह भी नहीं जानते कि सब बातें सबके सामने कहने और करने की नहीं होतीं'। यह श्याम की परीक्षा थी—देखें वे क्या उत्तर देते हैं? श्याम ने स्वयं तो कुछ न कहा परन्तु सखामुख से कहलवाया कि संसार हँसता है तो हँसने दो, उसकी क्या परवाह करनी ?[3] अन्त में इसीलिए उसने निश्चय किया था कि अब जो कुछ हो होता रहे विधि की प्रेरणा[4] से ही हमारा प्रेम बढ़ा है उसका भरसक निर्वाह भी मैं करूँगी। राधा निश्चिन्त थी, उसमें अभिमान[5] आ गया, अब वह अपने को कृष्ण की 'विशिष्ट' सहचरी समझने लगी, और सारी सखियाँ मन ही मन उसकी प्रतिकूल बन गईं। यह राधा के जीवन का परम सौभाग्य[6] था कि कृष्ण की अनन्या प्रेयसी बनकर वह सबकी आँखों में खटकने लगी—सब की ईर्ष्यालु दृष्टि[7] राधा के इस सौभाग्य में विघ्न देखने की कामना कर रही थी।

---

१ मोहन कौं मोहिनी लगाई, सगहि चले डगरि कै। (२०४५)

२ स्यामहिं बोलि लियौ ढिग प्यारी।
ऐसी बात प्रगट कहुँ कहियत, सखिनि मांझ कत लाजनि मारी।
इक ऐसेहि उपहास करत सब, तापर तुम यह बात पसारी।
जाति-पाँति के लोग हँसहिंगे, प्रगट जानिहैं स्याम भतारी। (२१०५)

३ सूर स्याम-स्यामा तुम एकै, कह हँसिहै संसार। (२१७६)

४ अब तौ स्यामहि सौं रति बाढ़ी, बिधना रच्यौ संजोग। (२२८१)

५ राधा हरि के गर्व गहीली।
मंद मंद गति मत्त मतंग ज्यौं, अङ्ग-अङ्ग सुख-पुंज भरीली। (२३१०)

६ तो सी को बड़भागिनि राधा, यह नीकैं करि जानी। (२३१६)

७ तुम जानति राधा है छोटी।
चतुराई अङ्ग-अङ्ग भरी है, पूरन-ज्ञान, न बुद्धि की मोटी।

राधा कृष्ण की इन लीलाओं का सूर ने जो वर्णन किया है उसमें न जयदेव के समान विलास है, न विद्यापति के समान केलि और न चंडीदास के समान भावी विच्छेद के भय से मिलन में भी दुःख, सूर की राधा में विश्वास तथा सत्कार है, जिनका आधार व्यक्तिगत अनुभव भी है तथा समाज की चर्चा भी, जब विश्वास जम चुका तो फिर लोकनिन्दा का कौन डर! संसार से भय उसी समय तक रहता है जब तक कि प्रेम का परिपाक न हुआ हो फिर तो 'चवाव' भी सौभाग्य बन जाता है—जो जलते हैं वे जला करें हमारे भाग्य में तो भगवान् ने सुख लिख दिया है उसे क्यों न भोगें ! राधा के प्रेम में स्थूल उपकरण कम सहायक होते हैं सूक्ष्म भावनाएं अधिक- मन की परवशता, पूर्व संस्कार, संयोग तथा भावना।

संगीत में छींक के समान जब एक दिन अक्रूर उस लीलामय जीवन में विघ्न बनकर आ गये तो सारे ब्रज में खलबली मच गई। कृष्ण ने राधा से कहा—'मुझे कंस ने बुलाया है, मैं मथुरा जा रहा हूँ।' राधा अपने कानों पर विश्वास न कर सकी, फिर यह सोच में डूब गई, उसका गला भरा हुआ था—मुख से कुछ भी उत्तर न निकला[1], एक अज्ञात भय उसकी आँखों में नाचने लगा—मिलन की यह अंतिम बेला थी। रथ तैयार था, कृष्ण बैठ गये और कुछ देर में दूर पर धूलि ही उड़ती दिखाई पड़ी, अन्त में वह भी आखों से ओझल हो गई—राधा को होश नहीं था, वह नहीं जानती कि यह सब हो क्या रहा है, जब वह चेती तो सिर पीटना और हाथ मलना[2] ही बाकी बचा था। मथुरा की सब घटनाएँ घटीं; नन्द लौट कर ब्रज आगये, ग्वालों को सारी बात मालूम हुई, सबको यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि कृष्ण राधा को बिलकुल छोड़ कर कंस की एक कुबड़ी दासी कुब्जा को घर में डाल रखना चाहते हैं[3]। कहाँ राधा और कहाँ कुब्जा! कोई तुलना भी हो सकती है क्या!! राधा का जीवन ही

---

१ हरि गोसों गौन की कथा कही।
मन गह्वर मोंहि उत्तर न आयौ, हौं सुनि सोचि रही। (३९८२)

२ तब न बिचारी री यह बात।
चलत न फेंट गही मोहन की, अब ठाढ़ी पछितात। (३९१४)

३ कंस री यह हरि करि हैं।
राधा को तजिहैं मनमोहन, कहा कंस दासी धरिहैं।

बदल गया, सारा ब्रज उसी की बातें करता है—सभी लोग उसी को लक्ष्य करके कृष्ण को दोष देते हैं, पापी समाज! न पहले मेरे सुख को देख सका न अब मेरे दुःख को। राधा को ऐसा लगता है मानो सहानुभूति दिखाने के बहाने लोग उसको चिढ़ा रहे हैं। कोई कहता है उनको तो कुछ दिन ब्रज में ऐश करना था[1], अन्य का आक्षेप है कि श्याम ने बहुत बुरा किया प्रेम दिखाकर गले पर छुरी फेर दी[2], एक ने कहा—वे तो स्वार्थी थे स्वार्थी, वे प्रेम का निबाहना क्या जानें[3]। कुछ गोपियाँ कृष्ण का मजाक उड़ाने लगीं—सुना है अब तो वे राजा हो गये हैं और मुरली तथा गायों का नाम सुनते ही उनको लज्जा आती है (३८११)। परदेशी के प्रेम का विश्वास ही क्या, वह पहले प्रीति बढ़ाता है, फिर अपने देश चला जाता है दूसरे को पछिताता छोड़कर[4]—हम तो प्रतिदिन यही देखती हैं, हमने तो पहले ही कह दिया था कि ऐसा ही अन्त होगा इस प्रेम का। राधा को बड़ी खीझ आती है—सब बातें बनाने वाले हैं कोई ऐसी युक्ति तो बतलाता नहीं जिससे वे फिर मिल सकें।[5] राधा ने अपने को ही दोष दिया—मेरे प्रेम में ही कुछ कपट होगा जिससे आज यह विरहदुःख सहना पड़ा,[6] परन्तु अब करूँ तो क्या—सोच-विचार में ही जीवन बीतता चला जा रहा है, प्रिय के मिलने का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ता[7]।

उद्धव का आगमन ब्रज के जीवन में एक नया अंक लाता है। आशा और निराशा के बीच डूबती-तैरती गोपियाँ प्रेम-महोदधि में लहरें ले रही थीं, उद्धव के उपदेश ने एक तूफान ला खड़ा किया, जिसमें सभी व्रजवासी बह गये—नंद और यशोदा भी, न बही तो एक राधा क्योंकि उसको अपने प्रेम का विश्वास था—इसी तिनके के

---

१ करि गए थोरे दिन की प्रीति। (३८०२)

२ प्रीति करि दीन्हीं गरें छुरी। (३८०३

३ प्रेम निबाहि कहा वे जानैं, साँचेहूँ अहिराइ। (३८०४)

४ कह परदेसी कौ पतियारौ।
पीछैं ही पछिताइ मिलौगे प्रीति बढ़ाइ सिधारौ। (३८१३)

५ बातनि सब काहू जिय समुझावै।
जिंहि विधि मिलनि मिलैं वै माधो, सो विधि कोउ न बतावै। (३८०१)

६ सखी री हरिहिं दोषजनि देहु।
तातैं मन इतनौ दुख पावत, मेरोइ कपट सनेहु। (३८१४)

७ हरि न मिले माइ जनम ऐसैं लाग्यो जान। (३८३०)

सहारे बिना छटपटाये ही उसने अपना सारा जीवन काट दिया; उसकी कामना कोई है तो यही कि विरहविह्वल प्राण जब यष्टजजर इस शरीर को छोड़कर सदा के लिए जा रहे हों तब एक बार प्रिय के दर्शन हो जावें—तुम मेरे पास मत आओ, मुझ से बोलो तक नहीं परन्तु किसी बहाने क्षण भर को ब्रज में आजाना, जिससे मेरे मन की यह अंतिम साध पूरी हो जावे :—

बारक जाइयौ मिलि माधौ
को जानै कब छूटि जाइगी स्वाँस, रहे जिय साधौ।
पहुनेहु नद बबा के आवहु, देखि लेहुँ पल आधौ। ३८८०।

राधा के मन में दोगुनी कसक है—प्रेम की असफलता और लोक का उपहास, अगर ससार को इस प्रसंग का पता न होता तो मन मार कर चुपचाप सन्यास में दिन कट जाते, परन्तु सारा समाज सब कुछ जानता है और हमारे आख्यान की चर्चा चलाकर हमसे अधिक बुद्धिमान बनता है। एक बार मिलकर फिर सदा को बिछुड़ना जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप[1] है—इसकी मौन पीड़ा को वही समझ सकता है जिसके जीवन में यह दुर्घटना आ चुकी हो। अगर श्याम को ब्रज में रहना नहीं था तो वे यहाँ आये ही क्यों[2], और अगर वे आये भी तो मेरे मन को इतने अच्छे क्यों लगे—और जब वे इतने अच्छे लगे तो अपने बनकर क्यों न रह सके ? मैं मन को कितना समझाती हू परन्तु यह मेरे वश में नहीं रहा[3]। अब इस शरीर को रखकर घुल घुलकर[4] मरने से क्या है, और अगर मरना चाहूँ तो मरूँ कैसे ? राधा ने जीवन में एक ही दांव लगाया था उसी में वह अपना सर्वस्व खो बैठी, अब उसकी दशा उस जुआरी की सी है जो बहुत कुछ समझाने पर भी न माना और जुआ खेलकर सदा को चौपट हो गया अब न संसार को मुख दिखाया जा सकता है और न संसार से सहानुभूति या दया की आशा की जा सकती है:—

अति मलीन वृषभानु कुमारी।.........
अधोमुख रहति उरध नहि चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी

---

१ मिलि बिछुरे की पीर कठिन है, कहे न कोऊ मानै।
मिलि बिछुरे की पीर सखी री, बिछुर्यो होइ सो जानै ॥ (३८८१)

२ बरु माधव मधुबन ही रहते, कत जसुदा के आये।

३ मैं मन बहुत भाँति समुझायौ।

४ दुसह वियोग बिरह माधौ के, को दिन ही दिन छीजै।
सूर स्याम प्रीतम बिनु राधे, सोचि सोचि कर मींजै ॥ (३१८०)

राधा किस-किस को समझावे, किस को दोष दे, जिसके जो मन आवे वह वैसा कहता रहे, अगर हम में समझ ही होती तो प्रेम ही क्यों करते ?

आशा ही संसार का जीवन है, मरते-मरते दम तक हम सोचते हैं कि शायद किसी प्रकार से बच सकें, सब कुछ नष्ट होता देखकर भी प्रेमी सोचता है कि शायद किसी बात से पत्थर पिघल ही जावे; इसलिए प्रेम सदा आशावादी होता है, हर कदम पर वह झुकता है और प्रिय के प्रत्येक अपराध को क्षमा करता रहता है भविष्य के भरोसे—एक बार वह पिघल जावे तो उसके सारे शूल फूल बन जावेंगे, उसकी सारी क्रूरता मान कहलावेगी। राधा इसीलिए मौन रही प्रत्येक नवीनता आशा को भड़काती है और अन्त में अवसाद दे जाती है; सावन आया—एक के स्थान पर दो-दो, परन्तु साथ झूलने वाला प्रिय न आया; वर्षा आई, फिर बीत गई; शरद आगई रास की पुरानी याद लेकर—परन्तु रासरसिक को आज ध्यान ही नहीं है। प्रकृति मन में सुप्त भावनाओं को जगाया करती है—आकाश में घिरी हुई काली घटा को देखकर अपने आप आँखें भर आती हैं :—

> हरि परदेस बहुत दिन लाए।
> कारी घटा देखि बादर की, नैन नीर भरि आए ॥ ४००० ॥

राधा ने उद्धव से कुछ कहना चाहा भी हो तो वह कह न सकी, उसने सोचा अवश्य था बिना कहे मन हलका[1] नहीं होता इस लिए मन की व्यथा को कह डाले परन्तु उसके नेत्रों में पानी आगया और गला रुक गया[2]। अस्तु, राधा की बहुत कुछ वेदना सूर ने सखी द्वारा व्यक्त कराई है। हमने एक निर्मोही[3] से प्रेम किया—एक 'ओछे' व्यक्ति से—हम यह न जानतीं थीं कि संसार में ऐसे लोग भी हैं जो बाहर से पूरा मेल जोल दिखलाते हैं परन्तु जिनके मन में कपट[4]

---

१ बिन ही कहें आपने मन में, कब लगि सूल सहौं। (४६७७)

२ कंठ बचन न बोलि आवै, हृदय परिहस मौन।
नैनजल भरि रोइ दीनौ, ग्रसित आपद दीन। (४७२१)

३ प्रीति करि निरमोहि हरि सौं, काहि नहि दुख होइ।
कपट की करि प्रीति कपटी, लै गयौ मन गोइ। (४४०८)

४ ऊधौ अति ओछे की प्रीति।
बाहर मिलत, कपट भीतर सौं, ज्यौं खीरा की रीति। ४'२६

ही भरा रहता है। श्याम बड़े कपटी निकले, वे सदा हमारे साथ रहा करते थे, हमारे साथ घण्टों बैठे रहते थे, संग-संग घूमा करते थे, मिलकर हंसते थे[1] और दुःख-सुख की बातें करते थे। हमने श्याम को अपना बनाया—अपना सर्वस्व देकर हम उनके हो गये[2], उनके लिए संसार में बदनाम हो गये और घर-कुटुम्ब वालों के बुरे बने—परन्तु फिर भी क्या उस निष्ठुर ने हमारी इन बातों की अन्त में परवाह की? आह! अब उन बातों को सोचने से क्या है, हमारी सारी कामनाएँ—हमारे सारे सपने—मन के मन ही में रह गये[3] अब कहें भी तो क्या-क्या कहें और किससे कहें—जिसको अपना समझा था वही अपना न निकला तो औरों का क्या भरोसा? हमारे लिए पश्चात्ताप ही आज शेष है—हमने क्या सोचा था[4] और उस निर्दयी ने क्या कर दिखाया! भूल अपनी ही है हमने उसको प्रेम किया था, परन्तु उसने हमको कभी अपनाया ही नहीं[5]—एकतरफा प्रेम का ऐसा ही करुण अन्त होता है! ......परन्तु नहीं, मैं अपने मन में सदा विश्वास रखूँगी, मेरे श्याम बड़े भोले थे, वे मुझे प्यार करते थे—मैं अपने उन्हीं श्याम की याद में डूबी रहूंगी—ये मथुरा वाले श्याम हमारे नहीं हैं[6] ये तो कोई और हैं। राधा यह तो जानती है कि श्याम ने नये दिखावे में बहककर[7] पुराने प्रेम को भुला दिया है परन्तु उसे यह विश्वास है कि संसार में उनको कोई

---

१ कहा होत अबके पछिताने।
खेलत, खात, हँसत एकहि संग, हम न स्याम गुन जाने। (४३७०)

२ जनि कोऊ बस परो पराएँ।
सरबस दियौ आपनौ उनकौ, तऊ न कछू कान्ह के भाएँ। (४६२८)

३ मन की मन ही माँझ रही।
कहिए जाइ कौन पै ऊधौ, नाहीं परत कही। (४५८८)

४ मधुकर प्रीति किये पछितानी।
हम जानी ऐसैंहि निबहैगी, उन कछु औरैं ठानी। (४१०५)

५ ऐसौ एक कोद कौ हेत।
जैसे बसन कुसुम रँग मिलि कै, नैकु चटक, पुनि सेत। (४५३७)

६ ऊधौ अब नहिं स्याम हमारे।
मधुबन बसत बदलि से गे वे, माधव मधुप तिहारे। (४२६५)

७ मधुकर यह निहचैं हम जानी।
खोयौ गयौ नेह-नग उनपै, प्रीति-कापरी भई पुरानी। (४३१२)

और इतना प्रेम न कर सकेगा'—किशोरावस्था में साथ-साथ रहते-रहते जो कभी न अलग होने की भावना मन में बैठ जाती है वह सुपरिचित होने के कारण भले ही आकर्षक न लग सके परन्तु वह अनन्य है, वह वासना रहित तथा स्वार्थहीन होती है, उसमें जितना सुख होता है उतना घर-घर के दिखावे में नहीं। और वास्तव म श्याम को पछिताना पड़ा, वे सोचते थे कि राधा का प्रेम भी कच्चा ही है, परन्तु जब उनको समय बीतने पर राधा के प्रेम की अनन्यता का प्रमाण मिला तो उनके मनमें भी टीस होने लगी, परन्तु हाथ से समय निकल गया, अब तो पिछली भूल पर पछिताया ही जा सकता है—अपने मन की कसक को एक दिन श्याम ने अपने मित्र उद्धव से कहा था—'सूर चित तें टरति नाहीं, राधिका की प्रीति'।

संसार में सदा दो प्रकार के व्यक्ति रहेंगे। एक तो वे जो भावना को ही सब कुछ समझते हैं, और दूसरे वे जिन्होंने सदा नाप-तोल करना सीखा है। यदि ये दोनों अलग-अलग रहें तो जीवन की बहुत सारी समस्याएँ उत्पन्न ही न हों, परन्तु संयोग प्रायः इन दोनों को मिला देता है। साहित्य में ऐसे वर्णन भी हैं जहाँ धन प्रतिष्ठा आदि के लोभ में कोई विवाहित युवक प्रेम को ठुकराकर कुछ समय के लिये परदेश चला जाता है—*प्रवीसाकुल विरही (या विरहिणी)* की वेदना के उस समय के उद्‌गारों को समाज के ठेकेदारों ने बड़ा सराहा है। और *ऐसी विषादपूर्ण कथाओं की भी कमी नहीं जिनमें नाप-तोल करने वाला* अविवाहित प्रेमी किसी भावुक प्रेमपात्र से पहले तो प्रेम जोड़ता है फिर *किसी भौतिक स्वार्थवश उस प्रेम को तोड़कर*[१] *अन्यत्र चला जाता है,* तब प्रवञ्चित प्रेमी समाज की सनद के अभाव में अपने मन की ज्वाला को या तो अतल जल में शान्त करता है *या अग्नि की चिनगारियों* में मिला देता है (यह कहना आसान नहीं कि आदर्श उस विवाहित कथा में अधिक था या इस *अविवाहित घटना में*)। संसार में धन-सम्पत्ति, ज्ञान-विज्ञान, यश-गौरव सब कुछ है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर अधिक है, परन्तु क्या इन्हीं *भौतिक उपकरणों के कारण* पिछले प्रेम को ठुकरा देना चाहिये, विशेषतः जब कि दूसरे का कोई और आधार ही न हो? सौराष्ट्र के कवि ने एक ऐसे ही अपने को

---

१ परम सुहृद सिसुता को नेहु।
सो जनि तजहु दूर के वासे, सुनहु सुजान जानि गति नेहु।

२ कठिन निर्दय नन्द के सुत, तोरि तोर्‌यो नेह।

बुद्धिमान् समझने वाले निष्ठुर को बार-बार समझाया है:--

मिथ्या छे ज्ञान अनें फोटक छे फां फां
व्यर्थ आ जीवननो बिखवाद हो
साणा समझीले सांचा सत्यनें
प्रेम भीना प्राणियाँ संसारमां विचरजे
प्रेम छे सृष्टिनो सवाद हो
साणा समझीले सांचा सत्यने[1]

सत्य तो यह है कि पहले तो इस संसार में किसी व्यक्ति को अपना मन पसन्द नहीं करता और यदि किसी एक को पसन्द करता भी है तो,वह व्यक्ति अपना नहीं हो पाता[2]—यह इस संसार की सनातन विडम्बना है। राधा-कृष्ण इसी के प्रतीक हैं। परन्तु इस विडम्बना से विश्वासघात का उत्तरदायित्व कम नहीं हो जाता; हाँ, अनन्य त्याग और तप से राधा का पद पराजय में अपने जीवन का अन्त कर लेने वाले असफल प्रेमियों से सहज ही ऊँचा उठ जाता है। राधा जानती है कि स्वार्थी लोकमत उसको ही बुरा-भला कहेगा, वह यह भी जानती है कि उस निष्ठुर को अपनी निष्ठुरता पर घुट-घुटकर रोना पड़ेगा, और राधा को विश्वास है कि यदि उस निर्मोही की आँखों के सामने उस क्रूर भविष्य का ठीक चित्र आजावे तो सच्चे एवं अनन्य प्रेम के सामने उसका तुच्छ स्वार्थ पिघल कर बह जावेगा। इसलिए राधा ने यह निश्चय किया कि वह प्रिय के पास अपना सदेश नहीं भेजेगी—जो किसी महत्त्वाकांक्षा में अन्धा बना हुआ है उसे प्रेम का सात्विक रूप आज दिखाई न पड़ेगा—उसी पुरानी सुख स्मृति में, उसी विश्वास तथा उल्लास में राधा अपना सारा जीवन काट देगी; संसार उसे पागल कहना चाहे तो कहता रहे, अपना सर्वस्व गँवाकर समाज की थोथी सहानुभूति की उसे भूख नहीं :—

'हम अपने ब्रज ऐसेहि रहि हैं, विरह-वायु बौराने।'

---

१ समस्त ज्ञान मिथ्या है, दिन-रात परिश्रम करना निरर्थक है, और इस जीवन के सारे संघर्षों में कोई सार नहीं, हे सयाने! तू जीवन के इस वास्तविक सत्य को समझ ले। तू अपने प्राणों को प्रेम के सौरभ से सुरभित करके संसार में विचरण कर, इस सृष्टि का एकमात्र संवाद प्रेम ही है। हे सयाने! तू जीवन के इस सारगर्भित सत्य को समझ ले

२ बंगाली गीत—मन मिले, तो मनेर मानुष मिले ना।

तुलसी का दार्शनिक मत

I

भारतीय दर्शन दो प्रकार का है—आस्तिक तथा नास्तिक, चार्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शन नास्तिक हैं, क्योंकि ये वेद का प्रमाण नहीं मानते, शेष ६ दर्शन वेद को प्रमाणस्वरूप स्वीकार करने के कारण आस्तिक कहलाते हैं; 'आस्तिक' तथा 'नास्तिक' शब्द इस प्रसंग में अँग्रेजी के *'थीस्ट'* तथा *'एथीस्ट'* के *पर्याय नहीं है।* आस्तिक दर्शन ६ प्रकार का है—न्याय, वैशेषिक, साङ्ख्य, योग मीमांसा तथा वेदान्त। गोस्वामी तुलसीदास बहुश्रुत थे, उनको षड्दर्शन का अच्छा ज्ञान था, यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट है; फिर भी उन्होंने मुख्यतः वेदान्त को स्वीकार किया है, इस विषय में सभी विद्वान एकमत हैं। परन्तु मतभेद का विषय यह है कि वे वेदान्त के शंकर सम्मत रूप को स्वीकार करते थे या रामानुजीय मत को। प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी उनको अद्वैतवादी मानते हैं तो प० रामचन्द्र शुक्ल विशिष्टाद्वैतवाद, और डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में गोस्वामी जी अद्वैतवादी को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हुए भी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत को अनुयायी थे। अतः यह विचारणीय है कि तुलसी का झुकाव शंकर की ओर था या रामानुज की ओर।

तुलसी का सारा साहित्य भक्ति का समर्थक है और निर्गुण की अपेक्षा सगुण को अधिक व्यावहारिक समझता है। भक्ति के लिए उपास्य तथा उपासक का भेद अनिवार्य है; और उस प्रसंग में मोक्ष का अर्थ ब्रह्मभाव प्राप्त करना नहीं प्रत्युत सामीप्य, सान्निध्य आदि प्राप्त करना है। अतः इन परिस्थितियों के लिए शंकर की विचारधारा उतनी उपयुक्त नहीं जितनी कि रामानुज की। फिर भी तुलसी की विचारधारा पर ध्यान देकर उसके निष्कर्षों को ग्रहण करना अधिक उचित होगा।

II

शंकर ने ब्रह्म को सत्य घोषित करके जगत् को मिथ्या बतलाया, और जब जिज्ञासु ने उनसे जीव के विषय में पूछा, तो वे कुछ

सोचकर बोले—'जीवो ब्रह्मेव, नापरः' (जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं)। रामानुज ने शङ्कर की पहली बात (ब्रह्म सत्यम्) मान ली, परन्तु दूसरी *(जगन्मिथ्या)* तथा तीसरी (जीवो ब्रह्मेव, नापरः) वे स्वीकार न कर सके। रामानुज चित् (जीव) तथा अचित् (जगत्) को भी सत्य समझते हैं; परन्तु चित् एवं अचित् इतने सत्य नहीं हैं कि ब्रह्म के बिना स्वतएव ये विद्यमान रह सकें; अतः विशिष्टाद्वैत मत में चिद्चिद् विशिष्ट ईश्वर एकमेव सत्य है। शङ्कर ब्रह्म का सत्य मानते हैं, रामानुज चिद्चिद् विशिष्ट ईश्वर को; यही दोनों की साम्य तथा वैषम्य है। शङ्कर ने माया (अविद्या या अज्ञान) को विशेष स्थान दिया; यही माया ब्रह्म तथा जीव में भेद का आभास देती है; यह एक भावात्मक (पोजिटिव) वस्तु है—ज्ञान के अभाव मात्र का नाम अज्ञान नहीं है। शङ्कर की माया को उस समय के आचार्यों ने बौद्धों के 'शून्य' का प्राच्छन्न रूप ही समझा था। रामानुज का भी सबसे बड़ा आक्षेप माया पर है; जब केवल ब्रह्म ही सत्य है तो माया कहाँ से आई, यदि ब्रह्म के समान माया भी सत्य है तो अद्वैत का अर्थ क्या है; और यदि माया ब्रह्म का नित्य गुण है तो ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष कहाँ रहा ?

शङ्कर और रामानुज का मुख्य भेद इन तीन निष्कर्षों में दिखलाई पड़ता है। (१) शङ्कर ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं, रामानुज सगुण। जो ज्ञानातीत हुआ भी ज्ञानमात्रेण ग्राह्य है वह निर्विशेष नहीं हो सकता, क्योंकि निर्विशेष का अर्थ निर्गम्य है। उपनिषद् में ब्रह्म को जो निर्गुण कहा गया है उसका अर्थ केवल यह है कि ब्रह्म में असद्-गुण कोई भी नहीं है, सद्गुणों का अस्तित्व तो ब्रह्म में मानना ही पड़ेगा। उपनिषद् के 'नेति नेति' का शंकर ने यह अर्थ किया था कि ब्रह्म गुणातीत या निर्गुण है; परन्तु रामानुज इसका अर्थ यह करते हैं *कि ब्रह्म के विषय में इद इत्थं नहीं कहा जा सकता; वह ज्ञानातीत* है, परन्तु गुणातीत नहीं, अन्यथा आगे उपनिषद् में यह क्यों कहा जाता कि ब्रह्म सत्य का भी सत्य है, गुण की प्रतिष्ठा तो हो ही गई—"तस्य उपनिषत् सत्यस्य सत्यमिति। प्राणः वै सत्यं, तेषामेव सत्यम्"॥ (२) शंकर ने जीव को भी ब्रह्म ही बतलाया, रामानुज ने उनका नित्य भेद स्वीकार किया; जीव और जगत् दोनों ही ब्रह्म के शरीर हैं—सर्वं चेतनाचेतन तस्य शरीरम् (श्रीभाष्य); ब्रह्म में मिलकर भी

जीव ब्रह्म नहीं बन सकता, उनका यह नित्य भेद ही भक्ति का आधार है। इस मत-भेद से शंकर और रामानुज के व्यावहारिक दर्शन में अन्तर आगया; शंकर ने ज्ञान को इतना महत्व दिया कि कर्म की अवहेलना होगई—जीवन्मुक्त के लिये तो कर्म रह ही नहीं जाता; शङ्कर सशरीर ब्रह्मत्व प्राप्त करा सकते हैं, रामानुज शरीर त्याग पर भी अभिन्नता नहीं चाहते ![3] शङ्कर ने जगत को मिथ्या माना है, रामानुज उनसे ज्यों के त्यों सहमत नहीं। रामानुज का 'असत्य' सापेक्षिक है; ईश्वर, चित तथा अचित् तीनों सत्य हैं, परतु ईश्वर की अपेक्षा से चित् तथा अचित असत्य हैं; तथा अचित्, चित् की अपेक्षा से भी असत्य है। सत्य की सापेक्षिकता उपनिषत् के 'सत्यस्य सत्यम्' वाक्य से स्पष्ट है। "एकमेवाद्वितीय ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन" के साथ-साथ "एको देव. सर्वभूतेषु गूढ., सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मा। तेनेद पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" "यतो वा इमानि भूतानि जायते, येन जातानि जीवन्ति, यं प्रयन्त्यभिसविशन्ति, तद् ब्रह्म" आदि वाक्य भी तो कहे गये हैं; जब ब्रह्म ही सब मे व्याप्त है, सब उसी से उत्पन्न है और सब का विलय उसी में होता है तो जगत् को नितान्त मिथ्या नहीं कहा जा सकता—अपेक्षाकृत मिथ्या तो वह है ही।

शङ्कर और रामानुज एक दूसरे से नितांत भिन्न नहीं हैं दोनों अद्वैत को मानते हैं, दोनों का आधार एक ही है। केवल ब्रह्म ही सत्य है, शेष सब उसी का रूप है—एक इस रूप को मिथ्या मानता है दूसरा इसको अपेक्षाकृत असत्य। रामानुज ने जीव को ब्रह्म से भिन्न माना है साथ ही जगत् से भी अलग बतलाया है; अज्ञान के कारण जीव अपने को संसार-बद्ध समझकर दुःख भोगता रहता है, वह ब्रह्म तो नहीं हो सकता, परतु जगत् से तो भिन्न है ही। जब तक जीव से अहंकार का निवारण नहीं होता, तब तक वह संसार या माया में फँसता रहेगा और अंशी की उपलब्धि द्वारा उसे आनन्द की प्राप्ति न होगी। शङ्कर जिस अहं की अनुभूति का प्रयत्न करते हैं, रामानुज उसी अहं को उखाड़ डालना चाहते हैं— क्योंकि दोनों के समक्ष 'अहं' के दो अलग-अलग रूप थे। शङ्कर ने जहां शुद्ध ज्ञानियों का मार्ग दिखाया वहां ज्ञानाहंकारियों को 'अहं ब्रह्मास्मि' की ढाल भी दे दी, जिससे वे ज्ञानमद मे चूर रह कर अपने को कर्तव्याकर्तव्य से ऊपर समझने लगे। रामानुज का उपचार ज्ञानकर्मसमुच्चय है, वे कर्मवर्जित ज्ञान को कोई महत्व नहीं देते। अहंकार का भक्ति द्वारा दमन, तथा तर्क का भाव द्वारा निराकरण रामानुज की दो मुख्य विशेषताएँ हैं। नैयायिकों के

तर्कवाद को अद्वैत मत ने अस्वीकार किया है; तर्क बुद्धि का विषय है तथा तार्किक की शिक्षा योग्यता आदि पर निर्भर हैं; अतः तर्क द्वारा सत्य का निर्णय नहीं हो सकता; ब्रह्मसूत्र (द्वितीय अध्याय, प्रथम पाद) में इसीलिए तर्क को वह प्रतिष्ठा नहीं मिली। रामानुज ने इस बात पर विशेष जोर दिया है। यदि केवल ज्ञान से मोक्ष मिल जाया करती तो वेदांत के सभी अध्येता मुक्त हो जाते: प्रपत्ति द्वारा प्राप्त परा भक्ति ही सच्चा ज्ञान है ध्रुव स्मृति, उपासना, ध्यान या निदिध्यासन इसके साधन हैं; सामान्या भक्ति परा भक्ति का साधन है परंतु परा भक्ति की प्राप्ति भगवत्प्रसाद पर ही निर्भर है।

III

तुलसी के दार्शनिक मत का अध्ययन करते हुये यह स्मरण रखना चाहिये कि तुलसी असाधारण पण्डित होते हुये भी मुख्यतः भगवद् भक्त थे; उनकी विचार धारा में प्रत्येक शास्त्रोक्त मत के प्रति श्रद्धा है, तथा उन्होंने उस विविधता में एकता का ही दर्शन किया है। तुलसी से पूर्व निर्गुण भक्ति का जोर था, जिसमें वेद पुराणों की निन्दा कर्म का खण्डन, तथा आचार की अवहेलना प्रसंगत आ ही जाती थी:—

साखी, सबदी, दोहरा, कहि कहिनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निन्दहिं वेद पुरान॥

कबीर ने राम को तो ब्रह्म माना, परन्तु राम के अवतार को नहीं, वे मूर्ति, अवतार, शास्त्र आदि सबको माया के ही रूप समझते थे, और मानो शंकर का विकृत अनुकरण करके 'नेति नेति' (मरम है आना) की ही रट लगाते थे। तुलसी ने इस नेति के स्थान पर अमित तथा अनन्त का उद्घोष किया:—

राम अनन्त, अनन्त गुन, अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं, जिनके विमल विचार॥

ब्रह्म के विषय में इयत्ता का प्रश्न नहीं आता, वह निर्गुण होते हुये भी सगुण है। उसकी लीला विचित्र है। जब ब्रह्म अवतार लेता है तो अवतार मिथ्या कैसे हुआ, जो अवतार सदर्थ है उसकी अवहेलना भी कैसे हो सकती है:—

विप्र, धेनु, सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गो पार॥

अस्तु, गोस्वामी जी न तो तर्क द्वारा और न भावना द्वारा ही किसी शास्त्र सम्मत मत के विरोधी हैं; परन्तु उनका पक्षपात व्यावहारिकता

पर है—जो जितना अधिक व्यवहारोपयोगी उतना ही अधिक ग्राह्य। ६ तो दर्शन हैं, पुराणों के भी अपने अपने मत हैं, शास्त्र नेति-नेति कहते हैं, सोचने पर ऐसा लगता है मानो ऋषियों के मत भी परस्पर में विरोधी हैं—

(क) छ मत विमत, न पुरान एक मत, नेति नेति नित निगम करत।

(ख) ज्ञान, भगति, साधन अनेक सब सत्य झूँठ कछु नाहीं।

(ग) तुलसिदास व्रत, दान, ज्ञान, तप सुद्धिहेतु स्रुति गावै।
रामचरन अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै।

(घ) वाक्यज्ञान अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत न हिं होई॥

(ङ) नाहिन आवत आन भरोसो।
यहि कलि-काल सकल साधन तरु है स्रम फलनि फरो सो॥
निगरत मन सन्यास लेत, जल नावत आम घरो सो।
बहुमत सुनि बहु पथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो॥

इस कलियुग में केवल रामनाम[1] का ही आधार है, कलियुग में सात्विक सन्यास तो कहीं है नहीं, सर्वत्र तामसिक सन्यास[2] ही है, जो लोग अपने को ब्रह्म कहते हैं वे भी अहङ्कार[3] मे डूबकर ही किसी सात्विक उपलब्धि के कारण नहीं। अतएव रामनाम का जप मोक्ष के सभी[4] मार्गों में अच्छा है—

नाना पथ निरवान के, नाना विधान बहु भाँति।
तुलसी तू मेरे कहे, जपु राम नाम दिन राति॥

वेदशास्त्र मे ज्ञान को मोक्षप्रद[5] माना गया है, परन्तु ज्ञान का मार्ग कृपाण की धारा[6] के समान है जिस पर चलने से सदा फिसलने

१—कलियुग केवल नाम अधारा। जानि कहु जो जाननिहारा॥
२—नारि मुई घर संपति नासी। मूँड मुड़ाइ होहिं सन्यासी॥
३ जे मुनि ते पुनि आपुहि आपको ईस कहावत सिद्ध सयाने॥
४ नाहिं तें आयो सरन सबेरे।
ज्ञान, विराग, भगति साधन कछु सपनेहु नाथ न मेरे।
५—ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना।
६—ज्ञान के पंथ कृपान की धारा।

की आशंका रहती है, और ज्ञानी प्राय गाल ही बजाते रहते हैं[7]। अत महावाक्यों[8] के अर्थज्ञान में निपुण व्यक्ति भी अपने उद्धार में समर्थ नहीं होता रामानुज भी कर्मरहित ज्ञान को असमर्थ ही समझते थे। निर्गुण और सगुण[9] दोनों ही मार्ग ठीक हैं, परन्तु प्रेम का[10] मार्ग सबसे बढ़कर है। तुलसी ने रामानुज से भी एक कदम आगे रखा और ज्ञानकर्मसमुच्चय के स्थान पर ज्ञानकर्मभावसमुच्चय को भवरोग सहर औषधि घोषित किया, इस समुच्चय में उनका मार्ग न तो ज्ञानियों के दम्भ से दूषित हो सका और न प्रेममार्गियों के समान लोकबाह्य ही बना रहा। कितने सहज भाव से वे अपने मत का प्रतिपादन करते हैं —

(क) भरोसो जाहि दूसरो, सो करो।
मोकों तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो।
करम उपासन ग्यान वेदमत सो सब भाँति खरो।
मोहि तो सावन के अंधहि ज्यों सूझत रग हरो॥

(ख) राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहि तो भव वेगारि महँ परिहौ, छूटत अति कठिनाई रे।
मारग अगम, सग नहिं सबल, नाँव गाँव कर भूला रे।
तुलसिदास भव त्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे॥

IV

ऊपर कहा जाचुका है कि शकर के 'ब्रह्म सत्यम्' को रामानुज ने भी स्वीकार कर लिया, परन्तु 'जगन्मिथ्या' तथा 'जीवो ब्रह्मैव, नापर' में उनका मत भिन्न है। अत तुलसी के ब्रह्मविषयक विचारों के अवगाहन का उतना प्रश्न नहीं आता, उनका ईश्वर मायास्वामी है तथा 'ज्ञान गिरा गोतीत' है, वह निर्गुण होकर भी सगुण है, उसकी कोई इयत्ता नहीं, वह अनन्त एव अमित गुण युक्त है। अब तुलसी के जीव विषयक विचार देखिए। वे ईश्वर तथा जीव मे नित्य भेद मानते हैं, और उस परम सत्ता के लिए उन्होंने 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग कम किया है, ईश्वर' शब्द का अधिक। लक्ष्मण ने एक बार (मानस, तृतीय

७—पडित सोइ जो गाल बजावा।

८ —'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्वमसि 'सोऽहम्' वेदान्त के ये वाक्य।

९—हिय निर्गुन, नयनहि सगुन, रसना राम सुनाम।

१०— जौ जप जाप-जोग मन वरजित केवल प्रेम न चहते।
तौ कत सुर मुनिवर बिहाय, ब्रज गोप गेह बसि रहते॥

सोपान) स्वयं भगवान् से कुछ दार्शनिक प्रश्न किये जिनमें से मुख्य था—'ईश्वर जीव भेद प्रभु, सकल कहहु समझाइ'। तब भगवान् ने शंकर की शब्दावली में 'जीवो ब्रह्मैव, नापरः' नहीं कह दिया, प्रत्युत वे इस प्रकार व्याख्या करने लगे—

माया ईस न आप कहुँ जान, कहिअ सो जीव।

भगवान् से बढ़कर और कोई प्रमाण नहीं हो सकता और वे स्वयं ईश्वर जीव में भेद मानते हैं तो उनके उपासक तुलसीदास का मत भिन्न किस प्रकार हो सकता है। तुलसी तो जीव और ईश को एक कहना नारकीय पाप समझते हैं—

परहि कलप भरि नरक महु, जीव कि ईस समान।

यद्यपि उन्होंने 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई' भी कहा है, परन्तु वसे ठीक उसी प्रकार उपचारमात्र समझना चाहिए जिस प्रकार कि 'राम तें अधिक रामकर दासा' को। क्योंकि अनेक स्थलों पर इस ईश-जीव-भेद की चर्चा है:—

(क) मायावसी जीव अभिमानी। ईशबस्य माया गुनखानी॥
पर बस जीव, स्ववस भगवन्ता। जीव अनेक, एक श्रीकन्ता॥

(ख) जिय जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो॥
मायावस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो॥

(ग) ईश्वर-अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।
सो माया बस भयउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥

(घ) नाचत ही निसि दिवस मर्‌यो।
तब ही तें न भयो हरि, थिर जब तें जिव नाम पर्‌यो॥

(ङ) सीतल मधुर पीयूप सहज सुख निकटहि रहत दूर जनु खोयो।
बहु भाँतिन स्रम करत मोहबस वृथहि मदमति बारि बिलोयो॥

इन उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि ईश्वर (ब्रह्म; हरि) तथा जीव में इतना भेद नहीं है कि वे नित्य पृथक हों, वस्तुतः जीव ब्रह्म में ही था परन्तु जब से वह अलग होगया तब से उस पर माया (अज्ञान) का शासन चलने लगा और उसने अपनी विद्यमानता ब्रह्म में न समझकर माया (=देह) में समझी; अब वह सहज सुख को भूलकर व्यर्थ ही भटकता फिरता है; यही जीव की मोह निद्रा की अवस्था है, जब जगेगा तो विवेक के कारण भ्रम का निवारण हो जायगा और विषयानुरक्ति के

नहीं मिलता तब तक भगवच्चरणों में निश्छल अनुराग नहीं हो सकता—जागरण सम्भव नहीं है —

(क) बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद, होइ न दृढ़ अनुराग॥

(ख) *यौं मन कबहूँ तुमहि न लाग्यौ।*
ज्यों छल छाड़ि सुभाव निरन्तर रहत विषय अनुराग्यौ॥

(ग) जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव
जागु, त्यागु मूढ़ता-नुरागु श्रीहरे॥

जगत के विषय में तुलसी के विचार उलझे हुए से लगते हैं, परन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं, क्योंकि उनका 'असत् सापेक्षिक है, जगत् असत् है परन्तु सत् भी है क्योंकि यह ईश्वर का विक्षेपक है— इसका विलय ईश्वर में ही होता है, अचित् चित् की अपेक्षा असत् है, परन्तु ईश्वर का अंग भी है। जहाँ तक जीव और जगत् का सम्बन्ध है, जीव को सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि जगत् उसका गम्य नहीं उसका लक्ष्य तो ईश्वर है। एक वाक्य में तुलसी ने जगत् को 'हरि आश्रित' तथा 'असत्य' दोनों ही कह दिया है—कदाचित् यही बतलाने के लिए कि जगत् इसीलिए असत् है कि यह निराश्रित नहीं रह सकता —

एहि विधि जग हरि आस्रित रहई। जदपि असत्य, देत दुख अहई॥

VI

माया के विषय में विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है, जीव को अभिभूत करने वाली संसार में व्याप्त भगवान् की दासी (जिससे बुद्धि में अज्ञान तथा मन में मोह जगता है) माया का गोस्वामी जी ने निम्नलिखित रूप बतलाया है —

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचै जग, गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके॥

विद्या और अविद्या का विषय बड़ा जटिल है। ईशावास्योपनिषद् में 'अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया' (१०) के अनन्तर 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' (१०) कहा गया है। 'अविद्या' की व्याख्या शंकर ने "विद्याया अन्या अविद्या ता कर्म इत्यर्थः", कर्मणो

विद्याविरोधित्वात्, ताम् अविद्याम अग्निहोत्रादिलक्षणाम्" आदि शब्दावली से की है। कठोपनिषत् (अध्याय १, वल्ली २) में 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमाना.', तथा मुण्डकोपनिषद् (प्रथम मुण्डक, द्वितीय खण्ड) में 'अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः' द्वारा 'अविद्या' को 'अज्ञान' का पर्याय माना गया है; और 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं'''। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते '(प्रथम मुण्डक प्रथम खण्ड) द्वारा वेद-वेदांग का नाम 'अपरा' विद्या माना है और ब्रह्मविद्या को 'परा' विद्या कहा है। तुलसी का ब्रह्मविद्या से यहाँ कोई भी सकेत नहीं वे कर्म और उपासना को भी अविद्या और विद्या नहीं कहते। वस्तुतः उपनिषद् में अविद्या का अर्थ कर्म अथवा अज्ञान है, और विद्या का अर्थ ज्ञान, यह विद्या यदि ब्रह्मविषयक ज्ञान है तो परा, अन्यथा अपरा कहलावेगी। तुलसी ने अज्ञान को अविद्या और ब्रह्मविषयक ज्ञान को विद्या[१] (माया या प्रकृति का ज्ञान) कहा है। ऊपर के उद्धरण का यही अर्थ होगा कि जीव को दो प्रकार का ज्ञान हो सकता है; एक यह ज्ञान कि संसार बड़ा आकर्षक है इसकी उपासना करनी चाहिए—यह ज्ञान अज्ञान या अविद्या है यह अहंकारजन्य है; दूसरा यह ज्ञान कि ब्रह्म ही सत् है माया तो उसकी दासी है—माया के इस रूप का ज्ञान विद्या या ब्रह्मज्ञान है:—

तजि माया, सेइअ परलोका। मिटहिं सकल भव संभव सोका॥
देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम, सब काम बिहाई॥

तुलसी की यह अविद्या ही शंकर का अज्ञान है—कमसे कम व्यावहारिक अर्थ में। शंकर ने अद्वैत की प्रतिष्ठा की थी, तुलसी भी माया का व्यावहारिक रूप द्वैत ही समझते हैं; परन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है। शंकर का अद्वैत एकमेवाद्वितीयम् का पर्यायवाची है, तुलसी का अद्वैत 'आत्मवत् सर्वभूतानि' निज-पर बुद्धि का अभाव है:—

(क) गई न निज-पर बुद्धि, सुद्ध ह्वै रहे न रामलय लाए।
(ख) सत्रु, मित्र, मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरियाई॥
(ग) तुलसिदास मैं-मोर गये बिनु जिय सुख कबहु न पावै।
(घ) द्वैतमूल, भय सूल सोगफल भवतरु टरै न टारयौ॥
रामभजन तीछन कुठार लै सो नहिं काटि निवारयौ॥

[१] हरि-सेवकहिं न ब्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापै तेहि विद्या।

(ङ) सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं । मायाकृत परमारथ नाहीं ।

यदि यह मैं तू या मेरा तेरा का भाव न होता तो संसार (दुःख) भी न होता, इससे छुटकारा ही मोक्ष है ।

शङ्कर यह कहते थे कि अज्ञान के दूर हो जाने पर जीव अपने स्वरूप को पहिचान लेता है और 'सोऽहम्' की भावना में मग्न रहता है, तुलसी का भी मत है कि अज्ञानान्धकार के नष्ट होने पर जीव अपने स्वरूप का अनुभव करता है, परन्तु अपने स्वरूप का अनुभव है अपने प्रभु का पहिचान लेना और अपने को दास समझ लेना । हनुमान के शब्दों में —

मोर न्याउ मैं पूछा साईं । तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं ॥
तव मायावस फिरौं भुलाना । ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना ॥
एक मन्द मैं मोहबस, कुटिल हृदय अज्ञान ।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ, दीन बंधु भगवान ॥

यहाँ माया', 'अज्ञान' तथा 'मोह' शब्दों की संक्षिप्त व्याख्या भगवान् के अनन्य भक्त हनुमान ने स्वयं भगवान् के समक्ष की है, जिससे विदित होता है कि तुलसी के मत में भगवान् के प्रसंग से जिसको माया कहते हैं जीव के प्रसंग में वही अज्ञान या मोह है— अज्ञान बुद्धि के लिए और मोह हृदय के लिए । इसका निवारण होते ही जीव अपने प्रभु ईश्वर को पहिचान लेता है । यहाँ गोस्वामी जी रामानुज से सहमत हैं ।

VII

यद्यपि रामचरित मानस के मंगलाचरण में गोस्वामी जी ने शङ्कर की शब्दावली 'यत् सत्त्वाद् अमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः' का प्रयोग किया है, परन्तु साथ ही 'यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिल ब्रह्मादिदेवासुरा' आदि कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि तुलसी की माया शङ्कर की माया नहीं है, क्योंकि शङ्कर की माया स्वयम् संसार है परन्तु तुलसी की माया संसार को अभिभूत करने वाली है—अर्थात् संसार की सापेक्षिक सत्ता भी यहाँ रह ही जाती है, तुलसी का 'ईश' शङ्कर का ईश्वर नहीं है, क्योंकि तुलसी का ईश (रामाख्यमीश) ब्रह्मा से भी ऊपर है, परंतु शङ्कर का ईश्वर ब्रह्म से निम्न स्तर का है । तुलसी का ईश इतना समर्थ है कि वह जड़ को चेतन और चेतन को जड़ कर सकता है, क्योंकि दोनों ही चित् तथा अचित् उसके अंगभूत बनकर उसके अधीन रहते हैं —

जो चेतन कहँ जड़ करै, जड़हि करै चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहिं, भजहिं जीव ते धन्य॥

ऊपर ब्रह्म, जीव, जगत् तथा माया के विषय में जो विचार किया गया है उससे भी यही निष्कर्ष निकल सकता है कि गोस्वामी जी रामानुज के अनुयायी थे, यद्यपि भगवद्भक्त किसी का विरोध नहीं करता, परंतु रामचरित मानस में अनेक स्थलों पर तथाकथित अद्वैतवादियों के ज्ञानाहंकार का खरा उपहास है। निर्गुण ब्रह्म तथा शङ्कर की माया को अप्रस्तुत बनाकर भी व्यंग किये गये हैं, और उस तुलना में रामानुज के मत को प्रशस्त ठहराया है :—

पुरैनि सघन ओट जल, बेगि न पाइअ मर्म।
माया छन्न न देखिऐ, जैसे निर्गुण ब्रह्म॥

सुखी मीन सब एक रस, अति अगाध जल मांहि।
जथा धर्मसीलन्ह के दिन, सुख—संजुत जाहिं॥

निर्गुण ब्रह्म तो माया के आवरण में छिपा रहता है, उसका रहस्य जाना नहीं जाता; परन्तु सगुण ब्रह्म अगाध सरोवर के समान है जिसमें मीन के समान भक्त एकरस होकर सदा निमग्न रहते हैं[1]। ध्यान देना होगा कि तुलसी ने सगुणोपासना को ही धर्म का पर्याय समझ लिया है, शायद इसीलिए कि केवल ज्ञान या केवल प्रेम से भिन्न सगुण भक्ति में धर्म के तीनों अंग ज्ञान, कर्म तथा उपासना का समन्वय हो जाता है। निर्गुणोपासना तथा शङ्कर के 'अद्वैतवाद' का वही सम्बन्ध है जो सगुणोपासना तथा रामानुज के विशिष्टाद्वैत का। यद्यपि गोस्वामी जी किसी मत के विरोधी नहीं थे, फिर भी उनका पक्षपात रामानुज की ओर है। जो लोग अज अद्वैत ब्रह्म की चर्चा और ध्यान करते हैं वे वैसा करते रहें; परन्तु हमको तो सगुण ब्रह्म का यश प्रिय है, हम प्रभु करुणा आदि सद्गुणों के आकर उस ईश्वर से यही वरदान माँगते हैं कि हमारा निर्विकार अनुराग मनसा, वाचा और कर्मणा उसी के चरणों में रहे (यह सद्गुणाकरत्व रामानुज का ही प्रभाव है):—

जे ब्रह्म अजम द्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।
ते कहहु, जानहु, नाथ! हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
करुणायतन प्रभु सद्गुणाकर देव यह बर मांगहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥

1—रामभगति जल, मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥

बिहारी का काव्यकौशल

शताब्दियों तक विपण्ण मन को उल्लसित करने वाली कृष्ण काव्य की रस-तरंगिणी मुगल-शासित मनो-भूमि में बहती हुई विलास-काननों को कुसमित करने लगी; हिन्दी के उद्यान में इसका सबसे सुरभित पादप बिहारी था। चौबे बिहारी लाल ने अपने जीवन में केवल एक मुक्तक काव्य ही लिखा है जिसमें ७०० से कुछ अधिक दोहे हैं, परन्तु उनका यश इतना विशद है कि शृंगार-काव्य में सर्वोपरि तथा समस्त हिन्दी साहित्य में प्रमुख कवियों के बीच उनका नाम लेना आवश्यक हो जाता है।

बिहारी के काव्य का मुख्य विषय शृंगार है, परन्तु विद्यापति के समान अश्लीलता में उनकी रुचि न थी। विद्यापति ने संभोग शृंगार के प्रसंग में तन और मन के नंगे चित्र खींचे हैं, किन्तु बिहारी ने सुरति से पूर्व मन का उल्लास और सुरति के अनन्तर मन का सुख[1] अंकित करके संभोग के केवल संकेत भर दिए हैं—चित्र पाठक की कल्पना पर छोड़ दिया है—विपरीत रति ने जब उनका ध्यान बारबार अपनी ओर खींचा तब भी वे अपने पार्थिव नेत्रों से उसको देखने न गये प्रत्युत किंकिणी के कोलाहल तथा मंजीर के मौन से उसका अनुमान करके ही रस विभोर हो गये[2]। इसका कारण यह है कि विद्यापति के शृंगार में वर्णन प्राकृत है, परन्तु बिहारी में नागरता[3] है; सतसई से ही यह स्पष्ट है कि नागरियों के चित्रों में मनोभावों, हावों आदि का वर्णन है और गँवेलिनों[4] के चित्रों में स्थूल अंगों का, यहाँ तक कि खेत रखाने वाली के चित्र में ग्राम्यत्व आ गया है 'राखति खेत खरे खरे खरे-उरोजनु बाल' (२४८)। विद्यापति ने 'कुसुम सेजोपरि[5]'

---

१ सुरति सुखित सी देखियत। (दोहों की संख्या बिहारी रत्नाकर के अनुसार है)

२ करति कुलाहल किंकनी गह्यौ मौनु मंजीर (१२१)

३ सबै हँसत करतार दै नागरता के नांव (१७६)

४ नागरि विविध विलास तजि, बसी गवेलिनु मांहि (२०६)

५ कुसुम सेजोपरि नागरि-नागर बइसल रभति-साधे
प्रति अंग चुम्बन रस अनुमोदन थर-थर कांपय राधे॥

नव रति-साध से बैठे हुए 'नागरि-नागर' का जो चित्र खींचा है उसमें 'प्रतिअंग चुंवन, रस अनुमोदन' भी पाठक को दिखाई पड़ रहा है, परन्तु बिहारीके श्याम राधा नागरी के तन की झाईं से 'हरित-दुति'[१] होते हुए ही दीख पड़ते हैं—इससे आगे बढ़ते हुए नहीं।

फिर भी यह समझना भूल होगी कि 'बिहारी-सतसई'में विलास नहीं है। वह युग ही ऐसा था जब नारी को संग लेकर ही जगत में कुछ रस मिल सकता था (इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत) (४२) जब 'चमक तमक हाँसी सिसक' (७६) ही साक्षात् मोक्ष थी, और जब सुन्दर देह का उपयोग केवल भोग ही समझा जाता था (क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेसु सब देह) (५ । बिहारी ने स्पष्ट कह दिया है कि इस भवसागर को सब लोग पार करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु कोई भी सफल नहीं हो पाता, स्त्री की छबि छायाग्राहिणी राक्षसी के समान कभी न कभी सबको अपनी ओर खींचकर इस समुद्र में डुबा ही लेती है.—

> या भव पारावार कौं, उलंघि पार को जाइ।
> तिय-छबि छायाग्राहिणी, ग्रहै बीच ही आइ ॥४३३॥

विशेषतः चढ़ती उमर में तो जग न जाने कितने अवगुण करता है—कितेन औगुन जग करै बै नै चढ़ती बार (४६१) और ऋतुराज अर्थात् यौवन में 'नव दल फल फूल'[१] के बदले लाज चली ही जाती है। इसलिये 'समय सौभाग्य' (३१३) को पाकर मन में गर्व न करना चाहिये, प्रेम की जो शीतलता यौवन के जेठ मास में भाती है वह बुढ़ापे के माघ मास में नहीं सुहाती[२]।

मन पर स्थूल जगत का प्रभाव डालने वाली ज्ञानेन्द्रियों में से प्रेम का साधन कान तथा नेत्र है—किसी की मधुर वाणी को सुनकर भी हम अपना राग भूल जाते हैं (एरी रागु बिगारि गौ बैरी बोल सुनाइ (५५२), परंतु बिहारी ने यह काम प्रायः नेत्रों को ही सौंपा है। नायिका की वह अदृष्टपूर्व चितवन सुजानों को भी वश में कर लेती है (वह चितवनि औरै कछू, जिहं बस होत सुजान (५८८) और नायक

[१] जा तन की झाँईं परै, स्यामु हरित दुति होइ (१)

[१] ऋपत मएँ बिनु पाइहैं, क्यों नव-दल, फल, फूल । ५७७ ।

[२] तिय की जीवनि जेठ, सो माह न छाँह सुहाइ । ३१३ ।

का रिझावन हार[३] रूप नायिका के रिझावर नेत्रों को अपने साथ लिये चला जाता है। नेत्रों के मिलने पर, तुल्यानुराग के लिये, मन का मिलना अत्यन्त आवश्यक है तभी प्रेमी और प्रेयसी अपने समस्त सांसारिक जीवन को मिलाकर एक कर सकते हैं (नैन मिलत, मन मिलि गयो, दोऊ मिलवत गाइ (१२८) जो युवती मन के मिलने पर भी चित्त में स्निग्धता नहीं लाती और अनन्य प्रेम को ठुकराती है वह भूल करती है, कवि ने उसको कितनी सहानुभूति से समझाया है:—

लग्यो सुमनु, ह्वै है सफलु, आतप रोसु निवारि।
बारी, बारी आपनी सींचि सुहृदता-बारि ॥१६॥

सभी मन सुमन नहीं होते इसलिए यह आवश्यक नहीं कि नेत्रों का यह मिलना सदा सु-फल ही हो जाय, ऐसी स्थिति में एक ओर अपनी परवशता होती है दूसरी ओर उसकी निष्ठुरता—शायद परस्पर में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है, हम जितने परवश होते हैं वह उतना ही निर्मोही। बिहारी में परवशता के दो रूप हैं—देह का दुर्बल होना[१] और नेत्रों का लोकलाज खो कर तड़पना[२]। इस परवशता में हाहाकार नहीं मिलता, प्रत्युत मूक रुदन है, उलाहना उसको दिया जाता है जो अपने से कुछ सम्बन्ध मानता हो, जो अपना नहीं रहा उसको उलाहना देने में भी तो लज्जा आती है (अब, अलि, देत उराहनौ अति उपजति उर लाज २७२) और जब तक जीना लिखा है तब तक इस शरीर में प्राण तो पड़े ही रहेंगे (परे रही तन प्रान २७५)। उसका भी क्या दोष, अपने मन ने ही अपना कहना न माना तो अब तड़पना ही पड़ेगा, आज भी तो यमुना के उस किनारे पर आकर मन वहीं हो जाता है उन स्मृतियों में डूबकर (मन ह्वै जातु अजौं वहै उहि जमुना के तीर ६८१)।

यदि नेत्रों तथा मन का मिलना सफल हो गया तो जीवन उल्लास से भर जाता है, शरीर तो दो ही रहते हैं परन्तु अपना मन उसी के पास पहुँच जाता है। ऐसी दशा में अन्तरंग सखी से प्रेम को छिपाने में बड़ा मजा आता है—वह सब कुछ जानती हुई भी हमारे मुख से स्वीकार

---

३ रूप रिझावन हार वह, ए नैना रिझवार। ६८३।

१—देह दूबरी होइ।१०२।

२—नैना नैंक न मानहीं कितौ कह्यौ समुझाइ ॥१६०॥,
लाज नवाएँ तरफरत, करत खूँद सी नैन। २४१।
ए मुँहजोर तुरंग ज्यौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं। ६१७।

कराना चाहती है, और हम भी छिपाना नहीं चाहते परन्तु सखी से सच्चे अनुमान की आशा रखते हैं। बिहारी ने इस दशा के बड़े सुन्दर चित्र खींचे हैं, जिनको कुछ सावधानी से समझना पड़ेगा, क्योंकि सखी का प्रिय-विषयक प्रश्न यह संकेत नहीं करता कि नायिका न जाने किस-किस को प्रेम कर सकती है, प्रत्युत नायिका अनन्यहृदया ही है, सखी तो रली में उससे पूछती है:—

> कौन गरीब निवाजिबौ, कित तूठ्यो रतिराजु (५८)
> तजै लाज, डरु लोक को कहौ बिलोकति काहि (५३३)
> अब ही तनु रितयौ, कहौ मनु पठयौ किहि पास (५३४)
> ए कजरारे कौन पर, करत कजाकी नैन (६७०)

बिहारी का नायक कामुक जान पड़ता है कभी 'नारि सलोनी साँवरी' (१६६) उसको नागिनी के समान डस जाती है, कभी 'बिथुरे सुथरे' (६५) बालों को देखकर उसका मन पथ-अपथ की याद भूल जाता है। परन्तु किसी पर मुग्ध होने के दो ही तो माध्यम हैं, रूप और गुण—नेत्र रूप पर टूटते हैं और मन गुण पर। जो नेत्र एक बार एक के रूप पर मुग्ध होकर फिर अन्यत्र नहीं जाते उनको कवि ने बड़ा सराहा है। क्यौंहू आनन आन सौं नैना लागत नैन (२३२)। और जो मन सु-मन होगा वह बाहरी रूप पर नहीं जाता प्रत्युत अपनी रुचि पर जाता है जो अनन्य होने के कारण सदा प्रशस्य है (मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ। ४३२।) बिहारी का युग ऐसा दुर्दिन था जिसमें अत्याचारों की दिगन्तव्यापिनी घटाओं ने सामाजिकों की दृष्टि को स्तंभित कर दिया था, वे यह न जानते थे कि उनके लिए क्या सुख है और क्या दुःख है; अतः प्रिय का सम्पर्क ही सन्तप्त मन की तृप्ति का कारण बनकर, चकवा-चकवी के समान, उनके लिए सुख या दिन का सूचक था, एक दोहे में इसका संकेत है—

> पावस-घन-अँधियार मैं, रह्यौ भेद नहि आनु।
> रात चौस जान्यौ परत, लखि चकई चकवानु ॥ ४८६ ॥

इसीलिए अपना प्रिय साथ हो तो नरक[1] में भी दिन अच्छी तरह से कट सकते हैं।

युवावस्था में अनेक अवगुण करने के उपरान्त जब आदमी

१—जो लहियै सँग सजन तो, धरक नरक हू की न। ७२।

जब नायक नायिका की वेणी गूँथने लगा तो प्रेमाधिक्य के कारण नायिका को स्वेद सात्विक होगया और उसके केश फिर भीग गए, तब वह अधिकार पूर्वक नायक को डाँटती है—रहने भी दो, तुमने गूँथ दी मेरी चोटी, तुम्हारा त्यौनार देख लिया, जिन केशों को मैंने इतने प्रयत्न से सुखाया था वे फिर पानी से चुचाने लगे—इसी पर अपने को बड़ा कुशल समझा करते हो। 'त्यौनार' शब्द का अर्थ है 'कुशलता', परन्तु इसका प्रयोग उस समय होता है जब कोई व्यक्ति अपने को कुशल समझ कर किसी काम में मनमानी करे और उसको बिगाड़ दे; 'नीठि' शब्द का अर्थ है 'बड़ी मुश्किल से' 'बड़ी सावधानी से' इसमें प्रयत्न शारीरिक भी होता है और मानसिक भी—'त्यौनार' प्रतिभा का विषय है परन्तु 'नीठि' साधना का। नायिका ने इन शब्दों का प्रयोग एक दूसरे के जोड़ में एक दूसरे का सामना करने के लिये किया है।

"मति" शब्द का अर्थ है 'हम तैयारी कर छोड़ें शायद कभी अवसर आ जावे' इसमें अपना प्रयत्न भी निहित है तथा अन्य विषयक आशा भी, कबीर ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है—"मति वे रामु दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि"; बिहारी का प्रयोग और भी सात्विक है—"मति कबहुँक आऐं यहाँ पुलकि पसीजै स्यामु" (२८१)। "भले" या "भली" शब्द का प्रयोग, ब्रजभाषा के 'भालो' से भिन्न, एक प्रकार के विपरीत अर्थ में भी आता है, जैसे सूर में है—'ऊधो भली करी तुम आये' यही प्रयोग बिहारी में भी देखने योग्य है—'भले पधारे, पाहुने, है गुडहर की फूलु, (४६५) —'पधारे' क्रिया ने व्यंग्य को और भी तीखा कर दिया है।

बिहारी की भाषा में इस प्रकार के शब्द-रत्नों की कमी नहीं, प्रत्येक शब्द के पीछे जीवन की कोई न कोई कहानी छिपी हुई है। हम यहाँ केवल दो और प्रयोगों को देखते हैं। 'गहिली, गरबु न कीजिये समै सुहागहिं पाइ' (३१३)—यहाँ सखी ने नायिका को समझाते हुए उसके कोप को शान्त करने का प्रयत्न किया है। 'गहिली' शब्द 'गहीली' अर्थात् 'हठीली' से भिन्न है, कम से कम बिहारी में, और इसका अर्थ है 'चल पगली'; जिसमें प्यार भी भरा है तथा झिड़कन भी, गुजराती में इसका प्रयोग प्यारो 'गन्दी' के अर्थ में होता है—'तू गहैली छे'। दूसरा प्रयोग है 'एरी, रासु बिसारि गौ बैरी बोलु सुनाइ' (५५२), यहाँ 'बैरी' शब्द का अर्थ 'शत्रु' नहीं है और न इसका विपरीत अर्थ 'मित्र' ही, प्रत्युत 'बैरी' वह है जो हमको ऐसा स्थायी दुख दे गया जिसको हम

भूलना नहीं चाहते, जब किसी स्त्री का पति या पुत्र मर जाय या सदा के लिए परदेश चला जाय तो वह विलाप करती हुई उसके लिए इस शब्द का प्रयोग करती है।

सतसई में मुहावरों की छटा भी देखने योग्य हैं, परन्तु वहाँ बिहारी का कौशल नहीं, उसकी विशेषता तो खिलवाड़ में ही भावों की चाशनी ला देना है। कहते हैं कि प्रेमी मुख से कुछ नहीं कहते, एक दूसरे की ओर देखकर ही अपने मन की बात नेत्रों के द्वारा बतला दिया करते हैं; यह भी कहा जाता है कि मन में बात सत्य होती है और वचन में प्रायः असत्य। कवि ने इसी भाव को लेकर लिखा है—

भूठे जानि न संग्रहे, मन मुँह-निकसे बैन।
याही तैं मानहु किये, बातनु कौ विधि नैन॥ (३४५)

जो व्यंजन खाया जा रहा है वह जूठा है यदि उसको मुख से उगल दिया जाय तो उसका संग्रह कौन करेगा, वह तो घृणा की वस्तु हो गई, इसी प्रकार मुख से निकले वचन हैं जिनका संग्रह अर्थात् विश्वास नहीं किया जा सकता। उगले हुये व्यंजन का ध्यान आते ही मुख से कही गई बातों की असारता स्पष्ट हो जाती है।

बिहारी की अप्रस्तुत-योजना स्वयं एक स्वतंत्रविषय है, शृंगारी काव्य की यमक-अनुप्रास-प्रियता इस कवि में और भी निखरा रूप दिखलाती है, वह जितना सावधान 'टाटी ओर उसास' (२६२) के सुनने में था उतना ही दीपक को बुझा कर देह से ही दीपक का काम लेने में भी (६६); एक ओर उसने वियोग की ज्वाला से माघ में लुएँ चलती देखी हैं (२८५) तो दूसरी ओर नायिका की दशा का 'नाउँ सुनत ही है गयौ तनु औरै मनु और' से ही संकेत कर दिया है।

कवि की लेखनी से जितने खरे चित्र संयोग के उतरे हैं उतने वियोग के नहीं। वह नारी के विविध चित्रों में जितना तल्लीन था उसका शतांश भी पुरुष के चित्रों में नहीं—नायिकाएँ तो गुण-कर्म-स्वभाव से अनेक हैं उनके भाँति-भाँति के रूप मिलते हैं परन्तु उनका सेव्य नायक तो एकमात्र नन्दकिशोर ही है—ज्यौं त्यौं सबकौ सेइबौ एकै नन्दकिसोर (४८१)। रस के छलकते हुये वातावरण में रहने पर भी बिहारी कविकर्म में ध्वनिवादी थे, उनकी कला संकेत-मूलक है वर्णन प्रधान नहीं; इसलिये उनके काव्य को पढ़कर पाठक को मनोभावों का साक्षात् अनुभव नहीं होता प्रत्युत कवि की कुशलता पर रीझकर वह उसे साधुवाद देने लगता है।

(आकाश-वाणी, दिल्ली, के सौजन्य से)

हिन्दी काव्यशास्त्र के आचार्य

(क)

शिवसिंह सरोज के अनुसार हिन्दी का सर्व प्रथम साहित्यिक पुष्य नाम का एक कवि था जिसने सातवीं शताब्दी में काव्यशास्त्र पर एक अलकार ग्रन्थ हिन्दी में लिखा। यद्यपि प्रमाण के अभाव में यह तथ्य किसी आलोचक को स्वीकार्य नहीं फिर भी विचार करने से यह असमव भी नहीं जान पड़ता कि सप्तम शती में हिन्दी भाषा में काव्य शास्त्र की कोई पुस्तक लिखी गई हो। कम विश्वास का तथ्य यह है कि सप्तम शती में, नितान्त साधारण जनता में ही सही, जिस भाषा का व्यवहार होने लगा था वह अपभ्रंश की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है। संस्कृत भाषा और साहित्य का देश में कुछ ऐसा आधिपत्य रहा है कि देश भाषाओं का स्वतन्त्र विकास कम ही हो सका, काव्य शास्त्र के सम्बन्ध में तो यह और भी अधिक सत्य है, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में संस्कृत से नितान्त स्वतन्त्र काव्यशास्त्र नहीं है। हिन्दी में एक युग ऐसा था जब, संस्कृत के अनुकरण पर ही सही, काव्यशास्त्र सम्बन्धी साहित्य का अविरत सृजन हो रहा था— यहाँ तक कि संस्कृत ज्ञान से शून्य व्यक्ति भी भारतीय काव्यशास्त्र का सामान्य ज्ञान हिन्दी भाषा के माध्यम से प्राप्त कर सकता है, अन्य प्रादेशिक भाषाओं में इस प्रकार का न युग आया और न इस वर्ग का साहित्य है। अस्तु, सप्तम शती में भारतीय काव्यशास्त्र पर देश भाषा में एक पुस्तक लिखी गई हो, यह कोई अविश्वसनीय आश्चर्य का तथ्य नहीं।

काव्यशास्त्र सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री के अनुसार हिन्दी में केशवदास ही सर्वप्रथम आचार्य हैं। केशव से रामदहिन मिश्र तक चार सौ वर्ष का अपार साहित्य है जिसके रचयिता असख्य हैं, कदाचित् ही कोई ऐसा मण्डल हो जहाँ किसी भी व्यक्ति ने काव्यशास्त्र पर कुछ न लिखा हो, और कदाचित् ही कोई ऐसा साहित्यिक परिवार हो जिसके पूर्व पुरुषों में से कोई भी उस बहती गंगा में एक डुबकी न लगा गया हो। अभी पर्याप्त खोज नहीं हुई फिर भी यावत् प्रयत्न से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काव्यशास्त्र सम्बन्धी साहित्य हिन्दी (व्रजभाषा) की एक अनन्य विशेषता है, और जिस भाषा में

इस साहित्य की सृष्टि हुई थी उस मात्रा में किसी अन्य साहित्य की नहीं—भक्ति साहित्य की भी नहीं। काव्यशास्त्र सम्बन्धी विचारों की प्रतिष्ठा के लिए साहित्यिकों ने शृंगार, वीर तथा शान्त तीन रसों का तो, अपने उदाहरणों में, स्पष्ट आश्रय लिया है, ऐसे स्थल भी मिल सकते हैं जिनमे दूसरे रस हों, और रसविहीन सूक्तियों द्वारा काव्य शास्त्र के उदाहरण लिखने वाले साहित्यिक भी पर्याप्त हैं। यदि छन्दों की दृष्टि से देखा जाय तो सभी प्रचलित छन्द इस साहित्य मे उदाहरण हेतु स्वीकार किये गये हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रकृति भेद से भिन्नता एव व्यापकता का परिचायक यह काव्यशास्त्रीय साहित्य अपने आप मे विशाल तथा महान है।

ऊपर यह कहा गया है कि काव्यशास्त्र सम्बन्धी साहित्य हिन्दी (व्रज भाषा) की एक अनन्य विशेषता है; परन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि इतर भाषाओं में इस प्रकार के साहित्य का नितान्त अभाव हो। प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं मे इस प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध हैं, पाली साहित्य का स्वाभाविक झुकाव कला के विरुद्ध था फिर भी वहाँ काव्य शास्त्र की नितान्त अवहेलना न हो सकी। दक्षिण भाषाओं में इस साहित्य की भी पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है—तामिल म अगस्त्य ने सर्व प्रथम इयाल (साहित्य), इसइ (सगीत) तथा कुटु (नाटक) पर लिखा था, और द्वितीय संगम युग तक साहित्यशास्त्र के स्वतन्त्र नियम विकसित हो चुके थे, वस्तु (पोरुल) का 'अहम' तथा 'पुरम' मे विभाजन, एव 'अहम' के सम्बन्ध से भिन्न भिन्न अवस्थाओं, ऋतुओं, कालों आदि के नियम सस्कृत नियमों के समानान्तर प्रतीत होते हुए भी मौलिक हैं। चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से बगाल में वैष्णव काव्यशास्त्र के ग्रन्थ लिखे गये जिनमें भक्तिरस को सर्वमुख्य स्थान मिला, परन्तु इन ग्रन्थों (रूप गोस्वामीकृत भक्तिरसामृतसिन्धु तथा उज्वलनीलमणि आदि) की भाषा सस्कृत है, बगाली नहीं। डिंगल मे यद्यपि काव्यशास्त्र का विकास होने के फलस्वरूप 'वयणसगाई' जैसे स्वतन्त्र अलकारों का प्रादुर्भाव हुआ फिर भी काव्यशास्त्र की जैसी लहर व्रजभाषा में आई वैसी राजस्थानी मे नहीं। 'रहीम' ने अवधी में बरवै नायिका भेद लिखा, और तुलसी की 'बरवै रामायण' अलकारों के उदाहरणस्वरूप लिखी हुई मानी जा सकती है परन्तु बरवै की यह अवधी परम्परा आगे चलती हुई नहीं मिलती; अवध प्रान्त के कवियों ने भी व्रज भाषा का आश्रय ले कर ही काव्य शास्त्र पर ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

(ख)

हिन्दी साहित्य में काव्य शास्त्र के मुख्यत तीन भिन्नकालीन प्रवाह रहे हैं, एक, केशव का, दूसरा रीतिकाल का, और तीसरा आधुनिक युग का और क्यों कि इन प्रवाहों की गति एक-दूसरे के अनन्तर ही दृष्टिगत होती है इसलिए आलोचकों ने तीनों में एक अविच्छिन्न सम्बन्ध सूत्र की खोज का प्रयत्न किया है; परन्तु वस्तुत इन प्रवाहों का अध्ययन पृथक पृथक ही, भिन्न भिन्न परिस्थितियों में, करना अधिक समीचीन है।

यदि पुष्य कवि की अप्राप्य रचना पर विचार न किया जाय तो केशवदास यावत् उपलब्ध हिन्दी साहित्य के सर्वप्रथम आचार्य हैं, इन का समय सवत् १६१२ से सवत् १६७४ (रामचद्र शुक्ल) तक है, उनके जीवनकाल में अकबर का उत्तर भारत मे शासन था, कम से कम काव्य शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें केशवदास न अकबर के राज्य-काल में ही लिखीं। अकबर का शासन कला के लिए उतना प्रसिद्ध नहीं जितना धार्मिक समन्वय के लिए, मध्यकालीन कला का प्रोद्भव अकबर की प्रवृत्ति और नीति से परिचालित हुआ परन्तु उसका वास्तविक विकास शाहजहाँ के शासन-काल में ही दिखाई देता है। हिन्दी काव्य-शास्त्र या काव्य-कला भी शाहजहाँ के समय मे ही फली फूली। मुगल शासन का इस पर कितना प्रभाव है यह इस साहित्य के लिए व्रजभाषा मात्र की स्वीकृति से अनुमानित किया जा सकता है—फारसी उस समय शासन की भाषा अवश्य थी और शिल्पकला आदि में भी ईरानी पच्चीकारी की स्थायी छाप है परन्तु साहित्य मे भारतीयता का ही आधिपत्य था जिस का सब से बड़ा प्रमाण पंडितराज जगन्नाथ है जिन की तुलना के लिए मुगलकाल का कोई भी फारसी साहित्यिक नहीं है। मुगल शासन के क्षेत्र व्रज मे ही काव्य शास्त्र का यह प्रवाह आया था और यह प्रवाह तत्कालीन जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जिस के समानान्तर कला के दूसरे रूप शिल्प, सगीत, चित्रकला आदि भी उसी प्रकार प्रोच्छ्वसित हुए थे। केशव का काव्यशास्त्र इस प्रवाह क्षेत्र से बाहर है, वह उस युग का स्वाभाविक विकास न होकर संस्कृत परम्परा का देशीय रूप है—यदि केशव का प्रयत्न आगे भी चलता रहता तो व्रज भाषा मे समस्त सस्कृत काव्यशास्त्र की देशीय छाया सुलभ हो जाती, और आज के आलोचक को केशव स्थान भ्रष्ट से न दिखाई पड़ते।

आचार्य केशव ने ब्रजभाषा में समस्त काव्यशास्त्र को सुलभ बना देने का जो श्रीगणेश किया था, उसका महत्वांकन न कर सकने के कारण आज का अनुवादी आलोचक भी केशव को संस्कृत की पुरानी परम्परा का आचार्य मात्र मान बैठता है, वह यह सोचने का कष्ट नहीं करता कि केशव ने भाषा में काव्यशास्त्र को प्राप्य बनाने का मार्ग दूसरों के लिये भी प्रशस्त कर दिया था। केशव वस्तुतः एक बड़े आचार्य थे जिनका पाण्डित्य अतर्क्य है। उन्होंने काव्यशास्त्र के जितने अंगों का विवेचन किया है उतने अङ्गों का किसी दूसरे आचार्य ने नहीं। रीतिकाल के सामान्य प्रवाह से वे केवल इसी आधार पर अलग किये जा सकते हैं कि उनका आचार्यत्व पूर्ण तथा व्यापक है, एकांगी नहीं, परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण विशेषता केशव का कवि-शिक्षा लिखना है—रीतिकालीन आचार्यों ने रस या अलंकारों के लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किये, परन्तु केशव ने कवियशःप्रार्थी युवकों को साधना का मार्ग दिखाया।

अस्तु, केशव से काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रंथों का प्रणयन प्रारम्भ नहीं होता; केशव समय की उपज नहीं, रीति-साहित्य सामयिक परिस्थितियों का स्वाभाविक विकास है; केशव आचार्यत्व की भावना से संस्कृत ज्ञान से वंचित युवकों के लिये काव्यशास्त्र पर लिख रहे थे; रीतिकाल में काव्यशास्त्र या कविशिक्षा की ओर प्रयत्न नहीं, कला की ओर झुकाव है—और कला के उपकरण हैं रस तथा अलंकार—अलंकार के उदाहरणों में रस छलक रहा है और रसकी चर्चा भी अलंकृत है; केशव कला की क्रीड़ास्थली से दूर रहते थे, रीतिकाल के आचार्य कलाकलित वातावरण में ही जीवन का रस लूटते रहे। यदि अनुसंधान के फलस्वरूप केशव तथा चिन्तामणि के बीच की खाई को भरने के लिये ऐसा साहित्य मिल जाय जो केशव के पदचिन्हों पर चलता दिखाई पड़े तो भी केशव से रीतिकाल का आरम्भ न माना जायगा क्योंकि उस दशा में रीतिकाल के दो भाग होंगे, पूर्वार्द्ध में केशव का अनुकरण होगा और उत्तरार्द्ध में मम्मट, जयदेव, तथा विश्वनाथ का—प्राचीन तथा नवीन सरणि के आचार्य अलग-अलग तो रहेंगे ही।

(ग)

चिन्तामणि से पद्माकर तक के आचार्यों की संख्या अगण्य है और प्रत्येक आचार्य की अपनी-अपनी विशेषताएँ भी हैं, क्योंकि ये

आचार्य स्वच्छन्द कवि थे, पथप्रदर्शक नहीं। आधुनिक आलोचकों ने इन आचार्यों या हिन्दी के रीतिकार कवियों को वर्गों में रखने का प्रयत्न किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'हिन्दी के अलङ्कार ग्रंथ अधिकतर चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसार निर्मित हुये कुछ ग्रंथों में काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण का भी आधार पाया जाता है'। इसीलिये डा० नगेन्द्र ने इन आचार्यों की शैली को काव्यप्रकाश शैली और चन्द्रालोक शैली नाम से पुकार कर इन के दो वर्ग मान लिये हैं।

यदि इन सब रीति कवियों की वर्ण्य-वस्तु पर विचार किया जाय और केशव को इस प्रवाह से अलग मानकर चला जाय तो इन रीति-कवियों की सामान्य विशेषता केवल यही है कि इन्होंने काव्य शास्त्र के सभी अंगों को ध्येय न बना कर केवल एक या एक से अधिक अंगों के व्याज से ब्रजभाषा के सरस (प्रायः शृंगारमय) उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, लक्षण और विवेचन की ओर इनका ध्यान नहीं है—वस्तुतः संस्कृत भाषा में टीका टिप्पणी दर्शनशास्त्र के समान काव्य शास्त्र में भी इतनी अधिक हो चुकी थी कि यदि ब्रज भाषा में भी इसी की आवृत्ति होती तो जटिलता का ही कारण बनती, आद्योपान्त नया विवेचन प्रारम्भ करना भी सम्भव न था। अतः रीतिकवि का ध्येय भाषा के पाठक को काव्य शास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों से परिचित करा देना भर था। सरसता के कारण वह इस कार्य में अधिक सफल हो सकता था। हिन्दी के रीति-कवि ने समय की माँग को भली प्रकार समझा और तदनुकूल आचरण भी किया।

यदि इन रीतिकवियों के पारस्परिक भेद को व्यावर्त्तक धर्म मान कर इनका वर्गीकरण किया जाय तो, वस्तु की दृष्टि से, ऐसा दिखाई पड़ता है कि अधिकतर ने काव्यशास्त्र के केवल एक अंग—प्रायः अलंकार, अन्यथा रस (नायिका भेद), कहीं कहीं छन्द—के ही लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, केवल कुछ एक ने एक से अधिक अंग (अलंकार, रस, शब्द शक्ति, गुणदोष) का प्रसंग चलाया है। तब इन कवियों के दो वर्ग बनते एकांग निरूपक तथा अधिकांग-निरूपक। एकांग निरूपकों के अलग अलग वर्ग बन सकते हैं—अलंकार निरूपक, नायिका भेद निरूपक, छन्दो निरूपक आदि। इस युग में अलंकार निरूपकों का ऐसा बोलबाला था कि मिश्रबन्धुओं ने इस काल को नाम ही अलंकृत काल देदिया।

यदि इन रीतिकवियों का, इनकी काव्यविषयक मान्यताओं को ध्यान मे रखकर, सम्प्रदायों मे वर्गीकरण किया जाय तो कुछ तो रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखे जा सकेंगे, शेष अलकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत। परन्तु इस साम्प्रदायिक भावना का हमको आरोप करना पडेगा, रीतिकवि स्वय इसके लिए अग्रसर नहीं होते; भूषण ने अलंकार का ग्रन्थ लिखा परन्तु वीररस को वाणी का उद्धारक माना; रसको महत्व देने वाले भी अलकारविषय मे सबसे अधिक रमते रहे। वस्तुत. उस युग मे 'रस' शब्द 'जीवनानुराग' का पर्याय था इसी लिए उसकी अभिव्यक्ति जितनी नायिकाभेद से हो सकती थी उतनी ही अलकारनिरूपण से भी।

यदि इन रीतिकवियों की निरूपण शैली पर ध्यान दें तो कम से *कम तीन प्रकार की शैलिया हैं—एक ही छन्द मे लक्षण और उदाहरण* फिट कर देना; लक्षण के लिए अलग छन्द और उदाहरण के लिए अलग; तथा लक्षण के अनन्तर ऐसा वर्णन जिसमें उदाहरण भी बन सके। प्रथम पर 'चन्द्रालोक' का प्रभाव है, द्वितीय पर 'काव्यप्रकाश' का तृतीय पर विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण का। इन शैलियों के अतिरिक्त दूलह की स्वतन्त्र शैली है वे एक साथ लक्षण देकर फिर एकत्र उदाहरण दे देते हैं। ध्यान रखना होगा कि ये शैलिया संस्कृत के तद्‌तद् आचार्यों या ग्रन्थों से ही प्रारम्भ नहीं होती, इनके बीज भी पहले से मिलते हैं और *इनकी स्वीकृति भी हो चुकी थी—जिन आचार्यों* की प्रसिद्धि थी उनके अपनाने से इन शैलियों को उन आचार्यों से सम्बन्धित नाम मिल सकता है।

चन्द्रालोक शैली तथा काव्यप्रकाशशैली से यह अर्थ तो कदापि नहीं लिया जा सकता कि चन्द्रालोक तथा काव्यप्रकाश के सिद्धान्तों को भी तद्‌तद् रीतिकवि ने स्वीकार कर लिया, अधिक से अधिक यह कह सकते है कि लक्षण-उदाहरण-समन्वय मे अमुक रीतिकवि पर जयदेव का प्रभाव है, अमुक पर मम्मट का, और अमुक पर विद्यानाथ का। क्या शैली का प्रभाव विषय को प्रभावित नहीं करता? उत्तर सचमुच कठिन है। चन्द्रालोक की सक्षिप्त शैली को अपनाकर भी अनेक रीतिकवि जयदेव का अनुकरण नहीं कर सके हैं; काव्यप्रकाश का नाम लेने वाले मम्मट के सिद्धान्तों को समझते भी थे या नहीं— यह विचारणीय है। अस्तु, ऐसा ज्ञात होता है कि किसी आचार्य विशेष या पुस्तक विशेष का नाम लेने पर भी रीतिकवि उससे शैली

अथवा सिद्धान्तों में प्रभावित हुआ हो—यह आवश्यक नहीं। जिनमें चन्द्रालोक शैली है उन पर प्रभाव चन्द्रालोक की अपेक्षा कुवलयानन्द का अधिक है।

काव्यप्रकाश शैली से अभिप्राय क्या है ? मम्मट प्रौढ आचार्य थे, उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों का अध्ययन करने के उपरान्त अपने लक्षणों में अन्वय व्यतिरेक का ध्यान रखा और कसे हुए लक्षण बनाये, अत यह स्वाभाविक हो गया कि उनके उदाहरण लक्षणों से पृथक् रहते। लक्षण तो पद्य में थे परन्तु, विषय का पूर्वापर सम्बन्ध गद्य की योजना द्वारा सभव हुआ, वृत्ति का आना पड़ा और उदाहरण अन्य रचित रखने पड़े। कारण यह कि मम्मट आचार्य थे, कवि उतने नहीं, और उनका उद्देश्य प्रतिपादन था सरसता नहीं। अत काव्यप्रकाश शैली की विशेषताएं निम्नलिखित हैं —

(क) लक्षणों में कसाव
(ख) वृत्ति (गद्य)
(ग) अन्य रचित उदाहरण
(घ) लक्षण और उदाहरण में परस्पर स्वतन्त्र छन्द

यदि इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर निर्णय दिया जाय तो कहना होगा कि रीतिकवियों में काव्यप्रकाश शैली है ही नहीं—काव्यप्रकाश के प्रति श्रद्धा अवश्य अर्पित की गई है। लक्षण और उदाहरण के लिए स्वतन्त्र-स्वतन्त्र छन्द का प्रयोग-मात्र ही काव्यप्रकाश शैली नहीं है, इससे अधिक महत्त्व तो अन्यरचित उदाहरण-योजना का है (ऊपर विशेषताओं का क्रम महत्त्व के अनुसार रखा गया है)। 'काव्यप्रकाश शैली' की अपेक्षा तो काव्यप्रकाश का प्रभाव' कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि मम्मट-स्वीकृत काव्य-स्वरूप अति उदार है उसमें समन्वय का ध्यान रखकर सामान्य दृष्टिकोण की पूर्ण रक्षा की गई है— शब्द और अर्थ के अनन्य समन्वय को काव्य कहते हैं, यह दोषरहित तथा गुणसहित हो, अलंकार न भी हों तो भी कोई बात नहीं। मम्मट और जयदेव में नितान्त विरोध नहीं, अलकार के सापेक्षिक महत्व पर मतभेद है।

चन्द्रालोक का मत तो स्पष्ट है कि जयदेव अलकार की अवहेलना नहीं देख सकते। रीतियुग अलकार का युग था कला का युग था, अत उसमें अलकार की अवहेलना का प्रश्न नहीं आता, और यह कहा जा सकता है कि रीतिकवियों पर चन्द्रालोक का प्रभाव है; परन्तु

यह कथन सत्य के आधार निकट नहीं। इस युग मे कला या अलकार की ओर जनता की स्वाभाविक रुचि थी, काव्य मे भी अलकार को प्रतिष्ठा मिली, और चन्द्रालोक तथाकुवलयानन्द का सम्मान हो गया। जयदेव के समान अनेकाग निरूपण हिन्दी के तथाकथित चन्द्रालोकी आचार्यों ने नहीं किया, भाषाभूषण तक पर अलकार प्रकरण मे कुव लयानन्द का प्रभाव है। अत प्रभाव की दृष्टि से तो यही कहना अधिक उचित है कि अधिकतर रीतिकवियों पर कुवलयानन्द का प्रभाव है।

जयदेव ने लक्षण उदाहरण समन्वय की एक शैली का सस्कृत मे प्रचार किया, जिसको अप्पयदीक्षित ने 'लक्ष्य-लक्षणश्लोक' नाम से अभिहित किया है। इसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं —

(क) संक्षिप्त अविकसित लक्षण

(ख) लघुतम छन्द

(ग) एक श्लोक मे ही लक्षण तथा लक्ष्य का समावेश

(घ) स्वरचित उदाहरण

(ङ) वृत्ति (गद्य) का नितान्त अभाव

ये सभी विशेषताएँ या तो अविकसित अवस्था की द्योतक हैं, या आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व के आधिक्य की। रीतिकवियों में निश्चय ही इनका अनुकरण है, क्योंकि रीतिकवि रसिक कवि एवं अप्रौढ आचार्य थे- उनमें विवेचन की रुचि अल्पतर है। जसवन्तसिंह और पद्माकर इसी वर्ग के थे। एक दोहे मे ही लक्षण-लक्ष्य का समावेश करने वाला कवि चन्द्रालोक की शैली मे तो अनुकरण करता है, विषय मे नहीं, क्योंकि अलकारों के भेदोपभेद सर्वत्र ही कुवलयानन्द के अनुसार है।

चन्द्रालोक शैली का प्रभाव मानने में एक आपत्ति है। जयदेव का लक्ष्य कण्ठोपयोगिता थी, इसलिए सूक्ष्मता से उदासीन रहकर उन्होंने एक श्लोक मे लक्षण-लक्ष्य को दबा दबाकर भर दिया, अप्पय दीक्षित ने अलकारों के भेदों का भी विस्तृत विवेचन किया इसलिए प्रत्येक भेद के लक्षण उदाहरण के लिए स्वतन्त्र श्लोक लिखना पड़ा। हिन्दी के कवियों ने अप्पयदीक्षित की इस विशेषता की उपेक्षा कर दी। फलत भेदों के लक्षण उदाहरण एक ही दोहे मे न भरे जा सके, प्राय भेदों के लक्षणों को देकर तदनन्तर कवि उन भेदों के क्रमश उदाहरण लिखता है जिससे कण्ठोपयोगिता नष्ट हो जाती है। परन्तु यदि चन्द्रालोक शैली से अभिप्राय लघु छन्द मात्र ही लिया जाय तब तो

हिन्दी के कुछ रीतिकवि इस वर्ग के माने जा सकते हैं, अन्यथा जयदेव की एक मुख्य विशेषता एक ही छोटे छन्द में लक्षण-लक्ष्य का समावेश) यहाँ अप्राप्य है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विषय, सम्प्रदाय, अथवा शैली की दृष्टि में रख कर इन रीतिकवियों का कोई भी वर्गीकरण निर्दोष नहीं माना जा सकता। तब इनके दो ही वर्ग हो सकते हैं—अनेकांगनिरूपक तथा एकांगनिरूपक। अनेकांगनिरूपक दो प्रकार के हैं—एक, वे जिन्होंने एक रचना में काव्य के एक से अधिक अंगों पर विचार किया है जैसे दास, देव आदि, दो, वे जिन्होंने भिन्न भिन्न पुस्तकों में भिन्न-भिन्न अंगों का विवेचन किया है, जैसे मतिराम जिनके ललितललाम में अलंकार, तथा रसराज में रस की चर्चा है। हमारा विचार है कि इस कोटि के कवि जो अलग अलग पुस्तकों में अलग अलग अंगों का विवेचन करते हैं एकांगनिरूपक ही हैं क्योंकि इनकी प्रवृत्ति समग्रता की ओर नहीं। एकांगनिरूपकों के अनेक वर्ग हैं—रसनिरूपक, अलंकारनिरूपक, छन्दोनिरूपक आदि। रसनिरूपण के अन्तर्गत नायिकाभेद, नखशिख षड्ऋतु, बारहमासा आदि सभी विषयों की स्वतन्त्र रचनाएँ सन्निविष्ट हो सकती हैं।

कवि दूलह ने अपने कवि-कुल-कण्ठाभरण की भूमिका में हिन्दी तद्युगीन साहित्यिकों का कुछ आभास दिया है—

> चरन, बरन, लच्छन ललित रचि रीझै करतार।
> × × × × × ×
> दीरघ मन सतकविन के अशाशय लघुवर्ण ।
> × × × ×
> जो या कंठाभरन को कंठ करै सुख पाय ।
> सभा मध्य सोभा लहै, अलकृती ठहराय ॥

'कर्त्ता', 'सत्कवि', तथा 'अलकृती' ये तीन शब्द साहित्यिकों के ३ वर्गों के परिचायक हैं। 'कर्त्ता' वह है जो रमणीय रचना कर सके, आज की भाषा में उसका 'कवि' कहा जायगा, और रीति कवियों के प्रसंग में यह शब्द मतिराम, भूषण, आदि उन साहित्यिकों का संकेत देता है जो लक्षणों की ओर ध्यान न देकर वर्णनप्रधान उदाहरणों में सिद्धहस्त थे। 'सत्कवि' शब्द यहाँ 'आचार्य' के लिए प्रयुक्त है, जो व्यक्ति एक से अधिक अंगों का निरूपण (एक ही पुस्तक में) कर सकता था वह उस

युग का आचार्य था—दूलह ने कदाचित 'सत्कवि' शब्द का प्रयोग संस्कृत के आचार्यों के लिए किया हो, परन्तु देव ने 'पुरानिन मुनि,'[1] तथा 'आधुनिक कवि' शब्दों द्वारा संस्कृत के पुराने आचार्यों को 'मुनि' तथा संस्कृत हिन्दी के समकालीन आचार्यों को 'कवि' शब्द से अभिहित किया है। हमारा विचार है कि 'मुनि' शब्द संस्कृत आचार्यों के लिए तथा 'सत्कवि' हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों के लिए प्रयुक्त हो तो अच्छा है। 'अलकृती' से दूलह का अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो अलकारयुक्त कविता रच सके और अलकारविषय का ज्ञाता भी हो—चन्द्रालोकशैली के जो आचार्य माने जाते हैं वे सभी अलकृती ही हैं।

अस्तु, तत्कालीन शब्दावली में ही रीतिकाल के साहित्यिकों के तीन वर्ग इस प्रकार बनेंगे —

(१) सत्कवि—अनेक अगों का एकत्र विवेचन करने वाले, दास, देव आदि,

(२) कर्त्ता—रीति के आश्रय से वर्णन करने वाले, मतिराम भूषण आदि

(३) अलकृती—अलकार विषय के ज्ञाता और लेखक

(४) कवि—रीति विहीन रचना करने वाले, बिहारी आदि

इस पिछले वर्ग से इस स्थल पर हमको कोई प्रयोजन नहीं, फिर भी इस पर विचार कर लिया है। कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जिन्होंने अलकार विषय के अतिरिक्त किसी अन्य अग पर लिखा हो, उनका उसी अग के अनुसार वर्ग बनेगा। 'कर्त्ता' तथा 'कवि' का क्षेत्र बड़ा व्यापक है, जिसमें आचार्यत्व की प्रवृत्ति हो वह 'कर्त्ता' अन्यथा 'कवि' तो सभी हैं।

(घ)

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रति आधुनिक अनुराग को यदि ग्राफ द्वारा देखा जाय तो उसकी सीधी रेखा नहीं बनती—प्रारभ में यह अनुराग उत्तरोत्तर वर्द्धमान दिखाई पड़ता है, परन्तु फिर इसकी गति कुछ काल तक के लिये स्तब्ध हो गई है, तदनन्तर नवीन परिस्थिति के प्रभाव से इसमें पुन स्फूर्ति लक्षित होती है। विवेचन की वैज्ञानिक

[1] अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव कहैं,
येई पुरानिन मुनि मतन में पाइये।
आधुनिक कविन के समत अनेक और,
इनही के भेद और विविध बताइये॥

शैली, गद्य का माध्यम तथा प्राय संगृहीत उदाहरण ही इन आचार्यों की सामान्य विशेषताएँ हैं प्रत्येक आचार्य अपनी कुछ विशेषताओं का प्रण करके ही आगे बढ़ा है, अत रीतिकालीन विश्लेषण की इतिश्री स्वत ग्य हो गई है।

आधुनिक युग मे कविराजा मुरारिदान से लेकर रामदहिन मिश्र तक के काव्यशास्त्रियों की सख्या दो दशक से अधिक नहीं और चोटी के काव्य शास्त्री ता एक दर्जन से अधिक न हुए होंगे, परन्तु प्रत्येक आचार्य की कुछ अपनी विशेषताए हैं इस हेतु वर्गीकरण की समस्या यहाँ भी हल नहीं होती। मान्यताओं के नाम पर ये सभी आचार्य समन्वयवादी हैं। इन शास्त्रीय आलोचकों की अपनी अपनी विशेषताएँ अवश्य है परन्तु विवेचन तथा प्रतिपादन मे ही प्रतिपाद्य विषय मे मौलिकता का प्रश्न इस युग मे भी प्राय ज्यों का त्यों बना रहा। लोक रुचि या समय की माँग के अनुकूल प्रभूत सामग्री मे से "किम् ग्राह्यम" "किम् अग्राह्यम्" पर ही हमारे आलोचक आचार्य बन गये।

अस्तु, आधुनिक आचार्यों के सामान्यत दो वर्ग बन सकते हैं—(क) प्राचीनों के ही अनुसार अलकार शास्त्र की लक्षण उदाहरण वाली शैली पर पुस्तक लिखने वाले, (ख) अलकार शास्त्र पर विचारात्मक (प्राय अनुसधान के सहारे) पुस्तक लिखने वाले। (क) वर्ग मे ४ उपवर्ग हो सकते हैं—(१) समस्त साहित्य शास्त्र पर रचना करने वाले (२) केवल अलकार शास्त्र पर (३) केवल रस विषय पर (४) अन्य अगों पर। इसी प्रकार (ख) वर्ग के भी ४ उपवर्ग बन सकते हैं—(३) रस विवेचक, (२) अलकार विवेचक, (१) समस्त रीति शास्त्र के के विवेचक (४) अन्य अगों (या अङ्ग) क विवेचक।

तालिका द्वारा इस वर्गीकरण को इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

(क) वर्ग—प्राचीन पद्धति पर लक्षण उदाहरण शैली के आचार्य

(अ) उपवर्ग—समस्त साहित्यशास्त्र के व्याख्याता कविराज मुरारिदान, जगन्नाथ प्रसाद भानु कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र आदि।

(आ) उपवर्ग—अलकार के व्याख्याता—भगवानदीन, अर्जुनदास केडिया आदि।

(इ) उपवर्ग— रस के व्याख्याता— अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध आदि।

(ई) उपवर्ग—अन्य अङ्गों के व्याख्याता—

(ख) वर्ग—विचारात्मक (प्राय अनुसधान के सहारे) पुस्तक लिखने वाले

(अ) उपवर्ग—समस्त काव्य शास्त्र के विवेचक—बा० गुलाबराय, डा० नगेन्द्र, डा० भागीरथ मिश्र, प्रो० बल्देव उपाध्याय,

(आ) उपवर्ग—अलंकार-विवेचक—डा० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल,' आदि

(इ) उपवर्ग—रस विवेचक— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० भगवान दास, बा० गुलाबराय, डा० राकेश आदि

(ई) उपवर्ग —अन्य अंगों के विवेचक—श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' आदि

यह वर्गीकरण भी रीतिकालीन वर्गीकरण के समान निर्दोष नहीं है, क्योंकि समसामयिक साहित्यिकों का मूल्यांकन कठिन कार्य है। हिन्दी काव्यशास्त्र के आचार्यों का अध्ययन केवल विश्लेषणात्मक हो सकता है; प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व और उसकी परिस्थितियाँ उसके कृतित्व का कुछ आभास दे सकती हैं: अविच्छिन्न सम्बंधसूत्र की खोज, अथवा वर्गीकरण के प्रयत्न इस प्रसंग में अधिक सफल नहीं हो सकते।

कविप्रिया

आचार्य केशवदास के यवि शिक्षा सम्बन्धी तीन ग्रंथ मिलते हैं, रसिकप्रिया (रचना काल स० १६७८), रामचन्द्रिका (सं० १६५८), तथा कविप्रिया (स० १६५८), जिनमें से 'रामचन्द्रिका' में 'परब्रह्म श्रीराम' के यश का अनेक प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध छन्दों में वर्णन करके केशव ने अपनी अपूर्व सामर्थ्य का परिचय दिया है तथा शिष्यों के लिये आदर्श उपस्थित किया है लक्षण देने की आवश्यकता नहीं समझी गई। शेष दो पुस्तकों में वर्ण्य विषय के लक्षण भी हैं तथा उदाहरण भी। रसिकप्रिया' उनकी प्रथम रचना है, उसमें विवेचन की अपेक्षा उमंग अधिक है, और 'रामचन्द्रिका' में छन्द के साथ साथ कथा* रचयिता का मुख्य उद्देश्य बन गई थी, परन्तु 'चन्द्रिका' से ठीक चार मास ऽ उपरान्त लिखी गई 'कविप्रिया' में केशव एक प्रौढ़ आचार्य बन गये हैं—उन्होंने विवेचन के अतिरिक्त सिद्धान्त-प्रतिपादन भी किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कविप्रिया' आचार्य केशवदास की सबसे प्रौढ़ तथा सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है।

यदि केशव अपनी पुस्तक में यह स्पष्ट न करते कि 'प्रिया' की रचना उन्होंने किस के लिये और क्यों की, तो हम यह सभावना कर सकते थे कि उस अभिमानी पंडित ने, संस्कृत में पण्डितराज जगन्नाथ तथा हिन्दी में कविराजा मुरारिदान के समान, पुराने मतों का खंडन करके काव्यशास्त्र सम्बंधी कुछ नवीन मतों का प्रतिपादन किया होगा। परन्तु इस सम्भावना की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि केशव ने पहले 'प्रभाव' में ही यह लिख दिया है कि रमा, शारदा, तथा शिवा के समान गुणवती प्रवीणराय नाम की एक पातुर के लिये × (उसकी शिक्षा के लिये) ही इस पुस्तक की रचना हुई है। प्रवीणराय तो व्याज-

---

* रामचन्द्र की चन्द्रिका वरणत हो बहु छद। (रा० च०)

ऽ सोरह सै अट्ठावनै, कार्तिक सुदि बुधवार।
रामचन्द्र की चन्द्रिका, तब लीन्हों अवतार। (रा० च०
प्रगट पंचमी को भयो कविप्रिया अवतार।
सोरह सो अट्ठावनो, फागुन सुदि बुधवार॥ १ ४, (कवि०)

× ताके काज कविप्रिया, कीन्ही केशवदास। १, ६१,

मात्र है, यह काय तो कविता — कर लेती थी, केशव ने यह देखा कि काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ अनेक हैं उनके मत भी भिन्न-भिन्न हैं सुकुमार बुद्धि वाले बालक-बालिकाओं + के लिये यह सम्भव नहीं कि संस्कृत के उन ग्रन्थों को पढ़ें और फिर कविता का अभ्यास करें—इसी परिस्थिति पर ध्यान देकर आचार्य ने 'कविप्रिया' की रचना की। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि —

(क) इस पुस्तक की रचना केशव ने किसी नवीन सम्प्रदाय के प्रचलन को ध्यान में रखकर नहीं की,

(ख) कवियों तथा आचार्यों के उपयोग के लिये भी नहीं—उनसे तो इस रचना के लिये क्षमा माँगी है*,

(ग) यह कृति अनेक पुस्तकों का सार है ※

और (घ) उदीयमान कवि इसको आसानी से समझकर (कण्ठ करके $) अपने कर्म में सफल हो सकेंगे—ऐसी लेखक को आशा है।

हिन्दी में काव्य शास्त्र सम्बन्धी जितनी पुस्तकें मिलती हैं उन सबसे विचित्र इस पुस्तक का नाम है, जिससे लेखक या आश्रयदाता का कोई संकेत नहीं मिलता, प्रत्युत पुस्तक के सामान्य महत्व की आशा झलकती है – षोडश शृङ्गारों के समान ○ मालह 'प्रभानों' वाली यह रचना रमणी कवियों की प्रिया ★ बनकर (कण्ठमाल ज्यों ×) उनके गले से सदा लगी रहेगी। यह नाम भी केशवदास के पाण्डित्य का द्योतक है। आचार्य वामन ने काव्यशास्त्र सम्बन्धी सूत्रों की रचना कर उनकी एक वृत्ति भी स्वयं तैयार की और उसका नाम कविप्रिया + रखा।

— जिनमें करति कवित्त इक, राय प्रवीन प्रवीन। १, २६,

+ समुझै बाला-बालकहु, वर्णन पंथ अगाध। ३, १,

* छमियो कवि अपराध। ३, १,

※ सुनि सुनि विविध विचार। ३, १,

$ कंठ करो कविराज। ३, ३,

○ कविप्रिया के जानिये ये सोरह शृंगार। १६, ८७,

★ कविप्रिया है कविप्रिया। १६, ८८

× कंठमाल ज्यों कविप्रिया। ३, ३

+प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।

काव्यालंकार-सूत्राणां स्वेषां वृत्ति विधीयते।

केशव ने इसको अवश्य पढा होगा और अपनी रचना के लिये यह नाम ही उनको अधिक पसद आया होगा दण्डी भामह, रुद्रट तथा वामन से केशव बडे प्रभावित थे, यह उनकी साम्प्रदायिक मान्यताओं से स्पष्ट है, क्या आश्चर्य है कि 'कविप्रिया लिखने से दस वर्ष पहिले ही उन्होंने अपनी कविशिक्षा सम्बधी पुस्तक का नाम सोच लिया हो और उसी नाम के अनुकरण पर रसिकों के लिये लिखी गई पुस्तक का नाम 'रसिकप्रिया' रख लिया हो ?

'कविप्रिया' मे सोलह प्रभाव है। प्रथम मे वदना प्रणयन काल राजवश वर्णन, तथा प्रणयन हेतु का कथन है, दूसरे मे कवि वश वर्णन है। तीसरे से सोलहवें प्रभाव तक मुख्य वर्ण्य वस्तु को स्थान मिला है। आचार्य ने काव्य का लक्षण नहीं दिया, प्रत्युत यह बताया है कि कवि सोच सोच कर अपनी कृति को सुन्दर — बनाने मे लगा रहता है—तनिक सा भी दोष काव्य को निन्दनीय बना सकता है इसलिये सौन्दर्य साधन की अपेक्षा दोष निवारण म अधिक सचेत रहना चाहिये %। जिस प्रकार मदिरा की एक बूँद से ही () गगाजल का भरा हुआ घडा अपवित्र होजाता है उसी प्रकार तनिक दोष से भी सारा काव्य अग्राह्य बन जाता है। केशव के इस कथन में सौन्दर्य पर ध्यान कम है प्रतिष्ठा पर अधिक, भामह मे भी ऐसा ही सङ्केत है—एक भी सदोष पद का प्रयोग न करे क्योंकि सदोष काव्य से इसी प्रकार निन्दा होती है जिस प्रकार कुपुत्र से ≍ परन्तु दण्डी मे सौन्दर्य का आग्रह है—सुन्दर शरीर मे यदि एक भी सफेद चिह्न (कोढ) हो तो वह सारे शरीर को अरुचिकर बना देता है इसी प्रकार तनिक से भी दोष से काव्य अग्राह्य बन [] जाता है। रुद्रट के काव्यालकार पर नमिसाधु ने अपनी टिप्पणी मे भी ऐसा ही मत प्रकट

— सुबरण को सोधत फिरत। ३, ४,

% प्रसु न कुनन्नी सेइये, दूषण सहित कवित्त। ३, ६,

() ज्यु दक हाला परत ज्यो, गगाघट अपवित्र। ३, ५,

≍ सर्वथा पदमप्येक न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येनदुःसुतेनेव निन्द्यते। १, ११, (काव्यालकार)

[] तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद् वपु सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ १, ७, (काव्यादर्श)

किया है–। काव्य की चर्चा मे दोष पर इतना जोर देना केशव की अपनी सूझ नहीं है दण्डी भामह तथा रुद्रट के विचार तो स्पष्ट हो ही चुके हैं, पिछले आचार्यों ने भी काव्य का लक्षण बतलाने के लिए दोषहीनता पर सबसे पहिले ध्यान दिया है। आचार्य मम्मट दोषरहित ★ और गुणसहित कहीं कहीं अलकृत शब्दार्थ को काव्य मानते हैं, और उनके चद्रालोककार जयदेव के मत मे निर्दोषा%, लक्षणवाली रीतियुक्त, गुणसहित, अलकार रस वाली अनेक वृत्तियों से युक्त वाणी को ही काव्य कहना चाहिये। यहाँ तक कि रसवादी विश्वनाथ ने पिछले लक्षणों का खडन करके रसात्मकता की प्रतिष्ठा की, परन्तु तत्काल ही रस के अपकर्षक ꣸ दोषों पर उनको ध्यान देना पडा।

दोषों की सख्या अपार है। केशव ने उनके तीन वर्ग बनाये हैं, जिनका क्रम उनके महत्व का सूचक है। प्रथम वर्ग मे ५ दोष हैं, दूसरे मे १२, तथा तीसरे वर्ग की चर्चा उन्होंने 'कविप्रिया' में न करके 'रसिक प्रिया' मे की है△—वे सभी रसदोष जो हैं। दोषों के प्रथम तथा द्वितीय वर्ग मे अन्तर बडा सूक्ष्म है जो उदाहरणों से ही स्पष्ट हो पाता है। दूसरे वर्ग मे प्राय वे दोष हैं जिनकी चर्चा संस्कृत के पिछले आचार्यों ने भी की है और जो कवि की अशक्ति के द्योतक हैं, परन्तु पहिले वर्ग के ५ दोष सामान्यत पाठक को मालूम नहीं पड़ेंगे, वे अशक्ति जन्य नहीं हैं प्रस्तुत दक्षता की कमी दिखलाते हैं कविता-वनिता के ये दोष ५ हैं–अध, बधिर, पंगु नग्न तथा मृतक +। ये सब दोष शरीर के हैं, उपचार की दृष्टि से इनके ३ वर्ग हो सकते हैं—(क) अध, बधिर तथा पगु–जिनका उपचार दुस्साध्य है, (ख) नग्न—जिसका उपचार सर्वसाध्य है, (ग) मृतक–जिसका उपचार असाध्य है। मृतक का तो एक ही उपचार है–

– सकलालकार युक्तमपि हि काव्यमेकेनापि दोषेण दुष्यते, अलकृत वधूवदन काणेनेव चक्षुषा ॥ (१, १४ पर टीका)

★ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन क्वापि। (काव्य प्रकाश, १, ४)

% निर्दोषा लक्षणवती सरीति गुण भूषणा। सालकार रसानेक वृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक ॥ (चन्द्रालोक १, ७,)

꣸ वाक्य रसात्मक, काव्य, दोषास्तस्यापकर्षका। (साहित्यदर्पण १, १)

△ रसिकप्रिया में जानु। (२, ११,)

+ अध, बधिर अरु प गु तजि नग्न मृतक मतिशुद्ध। (३, ७)

त्याग; इसलिए अर्थहीन सुन्दर काव्य तो बस नष्ट ही है। अन्ध, बधिर तथा पंगु जीवित तो रहेगा परन्तु अशुभ तथा अकीर्तिकर बनकर, इन दोषों का उपचार कम ही हो पाता है। परन्तु नग्न का उपचार सर्वमान्य है इसलिए इसके प्रति अवहेलना अशोभा का भी हेतु है और साथ ही निन्दा का भी। इसलिए आचार्य केशव ने अपने शिष्यों को यह सम्मति दी है कि काव्य में नग्न दोष को सहन करना न चाहिए, इतना ही नहीं, कविता को वस्त्राभूषणों से मनोहर ही रखना चाहिए।

वस्त्राभूषण की यही मनोहर कवि का मुख्य कर्म है, केशव ने इसी को 'अलङ्कार' नाम दिया है। अलङ्कारहीन कविता * नग्न है, उच्च जाति, शुभ सामुद्रिक लक्षण, सुन्दर रंग, प्रेमोद्दीपक, तथा मधुर स्वभाव वाली भी वनिता ✝ नग्न रूप में मन को रुचिकर नहीं लगती, इसी प्रकार उत्तम जाति, लक्षण, वर्ण, तथा छन्द वाली परन्तु अलङ्कारहीन कविता पाठक के मन को भाती नहीं। दोष-वर्जन के साथ ही साथ अलङ्कार प्रयोग की यह विशेषता संस्कृत के पुराने आचार्यों में भी दिखाई पड़ती है। दण्डी के मत में अलङ्कार सम्पन्न काव्य % चिरस्थायी बन जाता है, भामह ने कहा है कि सुन्दर होने पर भी रमणी का मुख आभूषण बिना मनोहर नहीं लगता – और अग्निपुराण में अलङ्कार हीन सरस्वती को विधवा × के समान माना गया है। इन आचार्यों ने अलङ्कार को काव्य की आत्मा या प्राण नहीं बतलाया, प्रत्युत अलङ्कार कवि-हृदय के उल्लास का सूचक है और श्रोता को अपनी ओर आकृष्ट करता है— अधोतवदना सुन्दरी या विधवा युवती को देखकर किस सहृदय के मन को ठेस न पहुँचेगी और सुसज्जित रमणी के अवलोकन मात्र से किस युवक के मन में बिजली सी न दौड़ जायगी? आचार्य

---

* नग्न तु भूषणहीन। (३, ८)

✝ जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजइ, कविता-वनिता मित्त॥ (५, १,)

% काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते तदलंकृति (काव्यादर्श १ १६,)

– न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्। (काव्यालङ्कार १, १३)

× अलङ्काररहिता विधवेव सरस्वती।

केशव ने मृतक तो अर्थहीन काव्य को माना है, अलङ्कारहीन को वे निर्जीव नहीं कहते—उत्तम भी नहीं—प्रत्युत नग्न के समान समझते हैं—वह अच्छा नहीं लगता ('न विराजई')। वामन [–] के मत में काव्य में जो कुछ सुन्दर है वही अलङ्कार है और काव्य की प्रतिष्ठा अलङ्कार पर निर्भर है। आचार्य जयदेव ? ने, आगे चलकर, अलङ्कार को काव्य का बहुत कुछ समझ लिया और अलङ्कारहीन काव्य को उसी प्रकार निष्प्राण माना जिस प्रकार उष्णता के बिना अग्नि को। केशव इस मत में अधिक विश्वास नहीं रखते प्रत्युत उन पुराने आचार्यों से सहमत दिखलाई पडते हैं—एक बार तो ऊपरी शृंगार उनको प्रकृत सुन्दर ✓ रूप का अपकर्षक जान पडा था।

आचार्य रामचन्द्र {} शुक्ल ने केशवदास को अलङ्कारवादी आचार्य माना है, परम्परा भी इसी पक्ष में है। परन्तु ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिस अर्थ में जयदेव अलङ्कारवादी हैं ठीक उसी अर्थ में केशव को नहीं माना जा सकता। केशव दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों के अनुयायी हैं जब शोभाकारक धर्म ✻ मात्र का नाम अलङ्कार था। पीछे JJ शोभा के दो हेतु मान गये, एक शोभा का जनक और दूसरा शोभा का वर्द्धक, प्रथम का 'गुण' नाम दिया गया और दूसरे को 'अलङ्कार', एक को स्थायी या नित्य धर्म माना गया और दूसरे को अस्थायी या अनित्य — तब आचार्य मम्मट ने काव्य के लक्षण में गुणों की नित्यता मानी और 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' कहकर अलङ्कारों की

मृतक कहावै अर्थ बिनु ॥ '३ । ८'

[–] काव्य ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः। (काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति)

? अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥ (चन्द्रालोक १,१८,)

✓ काहे को सिंगार कै बिगारति है मेरी आली,
तेरे अंग बिना ही सिंगार के सिंगारे हैं। (६, १२,)

{} हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३९।

✻ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते। (काव्यादर्श, २, १)

JJ डा० नगेन्द्र: रीतिकाव्य की भूमिका। पृ० १६२

– काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ३, १। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। ३, २। पूर्वे नित्याः ३, ३, (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति)

शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबन्ध

(१)

'चिन्तामणि' के पहले भाग में १७ "विचारात्मक निबंध" हैं, जिसमें से पहले दस का संबंध मनोविज्ञान के विषयों से है। इन दस निबन्धों में भी पहिला तो 'भाव या मनोविकार' का सामान्य परिचय भर देता है, शेष नौ के विषय विशिष्ट मनोविकार हैं—और ये निबन्ध किसी निश्चित क्रम के बिना ही समय समय पर लिखे गये हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इस संग्रह में जो क्रम है उसको लेखक ने क्यों अपनाया, साथ ही कुछ विचारों की आवृत्ति कई लेखों में होगई है जो इस बात का प्रमाण है कि अलग अलग निबन्धों को आत्म निर्भर बनाया गया है, सबको परस्पर संबद्ध किसी एक योजना के अंग नहीं, 'श्रद्धाभक्ति' (क्रम संख्या ३) निबन्ध में 'घृणा' (क्रम संख्या ७) की चर्चा आगई है—यद्यपि संग्रह से ऐसा जान पड़ता है कि 'श्रद्धाभक्ति' पहिले लिखा गया होगा और 'घृणा' पीछे।

इन नौ ('उत्साह' से 'क्रोध' तक) निबंधों के नाम देखने भर से ऐसा जान पडता है कि इनके विषय प्रायः हमारे स्थायीभाव हैं—'उत्साह' 'करुणा' 'शोक' 'घृणा', 'भय' तथा 'क्रोध' तो निश्चय ही साहित्य शास्त्र में स्वीकृत स्थायीभावों या रसों के नाम हैं; संयुक्त शीर्षक वाले ३ निबंध ('श्रद्धाभक्ति', 'लज्जा और ग्लानि', तथा 'लोभ और प्रीति') संयुक्त होने के कारण स्थायीभावों से सम्बन्ध न रखकर संचारीभावों के मेल में हैं और "ईर्ष्या एक अनावश्यक विकार है इससे उसकी गणना मूल मनोविकारों में नहीं हो सकती।"[1] ध्यान इस बात पर जाता है कि हास्य और अद्भुत रसों की ओर शुक्लजी का तनिक भी झुकाव न हो सका—इनका संचरण भी किसी निबंध में नहीं मिलता।

स्थायी तथा संचारी भावों को लेकर संस्कृत के साहित्य शास्त्रियों में विशद विवेचन की एक प्रणाली चिरकाल से प्रचलित थी, जिसमें संचारी भावों के तो केवल नाम गिनाये जाते थे, परन्तु स्थायी भावों पर व्यापक विचार किया जाता था—रस की प्रकृति स्थायी भाव, देवता, वर्ण, विभाव, अनुभाव, संचारी भावों के साथ-साथ इसके भेद,

---

१ ईर्ष्या, १०६, (१९५० के संस्करण के अनुसार)

इसका उत्पत्ति स्थान, इसके विरोधी तथा सहायक और इसके औचित्य की चर्चा की जाती थी। आचार्य न तो रस या स्थायी भाव का लक्षण देता था, न उसकी दूसरों से तुलना करता था, स्वरूप विवेचन में किसी मौलिकता की आवश्यकता न थी केवल पुरानी लीक से ही काम चल जाता था औचित्य की चर्चा केवल कवियशः प्रार्थियों के ही लिये थी सामान्य पाठक के लिये नहीं। शुक्ल जी का दृष्टिकोण संस्कृत के इन आचार्यों से नितान्त भिन्न है – वे शिक्षमाणों के लिये ही न लिखकर पाठक पात्र के लिये लिख रहे हैं, यहाँ वे आचार्य न होकर लेखक मात्र हैं, उनका दृष्टिकोण शास्त्रीय न होकर व्यावहारिक है।

मनोविज्ञान शास्त्री जब अन्तर्जगत की विवेचना करने बैठता है तो उसके सामने मनोभाव प्रायः नहीं होते प्रत्युत स्मृति, कल्पना अवधान आदि मनस्तत्व ही रहते हैं, जिनमें वह प्रयोग द्वारा, शुष्क सिद्धांतों की खोज करने का प्रयत्न करता है। मनस्तत्व मानस के स्थायी गुण हैं, परंतु मनोभावों की उत्पत्ति उस समय होती है जब हमारे मन का बाह्य जगत् से सम्पर्क होता है; इच्छा ज्ञान, तथा क्रिया में से मनोभावों का सम्बंध केवल इच्छा से है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस मनोवैज्ञानिक युग मे रहते हुये भी शुक्ल जी ने अपने इन लेखों को शुद्ध मनोवैज्ञानिक नहीं बनाया, उनका दृष्टिकोण भी भिन्न है तथा क्षेत्र भी।

उपर्युक्त दोनों शैलियाँ– संस्कृत आचार्यों की तथा मनोविज्ञान शास्त्रियों की—भले ही शुक्ल जी पर अप्रत्यक्ष प्रभाव डाल सकी हों, परंतु उनका दृष्टिकोण पूर्ण-रूपेण मौलिक है; यदि उक्त दोनों शैलियों को व्यक्ति-निरपेक्षता के कारण 'शास्त्रीय' कहा जावे तो शुक्ल जी को शैली को 'साहित्यिक' कहेंगे—विद्वान् लेखक के ही शब्दों में ये निबंध "विषय प्रधान" कम हैं "व्यक्ति-प्रधान" अधिक। साहित्यिक लेखक अपनी शैली तथा अपने दृष्टिकोण में अपनी स्पष्ट छाप लगा देता है जिसकी पहिचान कर हम यह कह सकते हैं कि यह अमुक व्यक्ति की रचना है अमुक की नहीं हो सकती, परंतु शास्त्रीय विद्वान् ऐसा नहीं कर पाता क्योंकि वह तो विचारों में पारंगत है अभिव्यक्ति का वैसा अधिकारी नहीं।

शुक्ल जी से पहले भी अमूर्त मनोजगत के विषयों पर

निबंध लिखे जाते थे, अंग्रेजी मे ★ तथा हिन्दी मे भी। फ्रांसिस बेकन ने अंग्रेजी साहित्य को अपने लेखों के रूप में, एक स्थायी निधि भेंट की थी; बेकन का प्रभाव हिन्दी पर पड़ा – महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उनके लेखों का अनुवाद हिंदी मे किया था। बेकन के कुछ लेखों के नाम शुक्ल जी के निबंध के शीर्षकों से मिलते हैं, जैसे—'ऑफ ऐंगर' तथा 'क्रोध', 'ऑफ एन्वी' तथा 'ईर्ष्या' 'ऑफ लव' तथा 'लोभ और प्रीति' परंतु दोनों साहित्यिकों मे बड़ा अंतर है। बेकन की संक्षिप्त शैली उपदेशमूलक है, शुक्ल जी की विश्लेषणात्मक। बेकन के ये लेख एक गम्भीर बहुश्रुत तथा अनुभवी विद्वान की विचारधारा भर हैं, जिनका आकार छोटा सा है—ये ऐसे सूत्र हैं जिनके अनुसार आचरण करने वाला पाठक अपने जीवन में बहुत सी भूलों से बच सकता है। शुक्ल जी के निबन्धों मे आचार विषयक बातें थोड़ी ही मिलेंगी, वे पाठक के व्यावहारिक दृष्टिकोण को रागात्मक बनाना चाहते थे उनका लक्ष्य सम्पूर्ण मानव है उसकी कोई क्रिया-मात्र नहीं।

अमूर्त विषयों पर लेख लिखने की एक दूसरी शैली भी साहित्यिकों मे प्रचलित थी, जिसके उदाहरण में उधर हैज़लिट तथा लैम्ब के लेख हैं और इधर बालकृष्ण भट्ट तथा प्रताप नारायण मिश्र के। इन लेखों में गम्भीरता के स्थान पर मस्ती और फक्कड़पन है, विवेचन के स्थान पर विनोद है, एवं स्थायित्व के स्थान पर सामयिकता है ये लेख शुक्ल जी के 'विचारात्मक निबन्धों' के समकक्ष नहीं रखे जा सकते। भट्ट जी का एक लेख है 'भक्ति', जो "भक्ति' यह शब्द भज धातु से बना है जिसका अर्थ 'है सेवा करना" से प्रारंभ होता है, और जिससे शुक्ल जी के 'श्रद्धा भक्ति' को नाममात्र का भी मतलब नहीं।

★ अंग्रेजी साहित्य में यूनानी विद्वान् अरस्तू के जिन लेखों का अनुवाद पाया जाता है उनमें से कुछ के शीर्षक हैं—'आफ ऐंगर', 'आफ लव ऑफ फ्रैन्ड्स', 'ऑफ एनमिटी एण्ड हेट्रेड', 'ऑफ फीयर' आफ शेम' 'आफ पिटी और कम्पैशन', 'ऑफ इनडिगनेशन' 'ऑफ एन्वी'। इनका उद्देश्य था, श्रोता के मन में इन भावों को जगाकर उसे अपने अनुकूल बना लेना। (दि प्रिंसिपिल्स ग्वर्निंग ब्लीफ, एराइजिंग फ्रोम दि पैशन ऑफ दि हियरर, आर टु बी गैदर्ड फ्रोम दैट विच शैल नाउ बी सैड आफ दि सैवरल पैशन्स इन आर्डर—पोइटिक्स, अरिस्टोटल्स रिटोरिक्स, ११०) बेकन पर इनका प्रभाव रहा होगा, परन्तु शुक्ल जी पर नहीं जान पड़ता।

वस्तुन 'ईश्वर की सृष्टि में चढ़ती उमर भी क्या ही सुहावनी होती है' जैसे मुसखानों वाले लेख—काँच चितामणियों के सामने कैसे ठहर सकते हैं। अपने जीवन में इन विषयों पर केवल दस निबध ही लिखना इस बात का सूचक है कि शुक्ल जी का कितना गम्भीर चिंतन इनके मूल मे है, और इनके द्वारा वे अपने जीवन दर्शन अपनी काव्यविषयक धारणाओं तथा अपने सामाजिक विचारों, सक्षेप मे अपने व्यक्तित्व, को सचेत पाठक के सामने रागात्मक ढग से रख सके हैं। जिस प्रकार उक्त दोनों शास्त्रीय पद्धतियों से स्वतन्त्र इनका दृष्टिकोण है उसी प्रकार इन साहित्यिक शैलियों का भी सीधा प्रभाव शुक्ल जी की शैली पर नहीं पाया जाता।

शुक्ल जी के इन विचारात्मक निबन्धों की प्रथम विशेषता यह है कि इनके विषय अमूर्त्त हैं, और वे भी न तो बाह्य ससार के और न अन्तर्जगत् के ही प्रत्युत ऐसे जो बाह्य जगत् के सम्पर्क से अन्तर्जगत् मे उत्पन्न होते हैं। हमारा लेखक मनोविज्ञान शास्त्री नहीं, प्रत्युत साहित्यिक है, यहाँ वह आचार्य की अपेक्षा कलाकार के रूप मे अधिक निखरा है। उसने एक मनोभाव का स्वरूप बतलाते हुए समान मनोविकारों से उसका साम्य तथा भेद स्पष्ट किया है, फिर वह उपयोगितावादी पक्ष पर आ जाता है—इन मनोविकारों का 'सदुपयोग भी हुआ है और दुरुपयोग भी' + यदि 'लोक-कल्याण के व्यापक उद्देश्य की सिद्धि के लिए मनुष्य के मनोविकार काम मे लाए गए हैं,' तो यह उनका सदुपयोग है, अन्यथा 'सकुचित और परिमित' स्वार्थों मे इनका दुरुपयोग ही होता है।

यहाँ इस बात का उत्तर भी मिलता है कि शुक्ल जी ने इन मनोभावों को ही अपने निबन्धों का विषय क्यों बनाया। दीर्घ काल तक साहित्य का अनुशीलन करते हुए हमारा लेखक इस तथ्य पर पहुँचा था कि निवृत्तिमूलक अभावात्मक रूखा पथ की अपेक्षा प्रवृत्ति मूलक भावात्मक (पोजिटिव) सरस मार्ग अधिक हृदय ग्राह्य है, और क्योंकि 'समस्त मानवजीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं' इसलिए उनका दमन अस्वाभाविक है उनका लोककल्याण की दृष्टि से नियमन होना चाहिए, 'रागों के सम्पूर्ण दमन की अपेक्षा रागों का परिष्कार ज्यादा काम में आने वाली बात है':S प्रश्न हो सकता है कि उपदेश या विवेक द्वारा भी तो हम लोक कल्याण

+ भाव या मनोविकार पृष्ठ ७। : वही। S काव्य में रहस्यवाद, ४२।

की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं, फिर मनोभावों को इतना महत्त्व क्यों दिया जाय ? उत्तर शुक्ल जी ने अनेक स्थलों पर दिया है कि 'मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूल वृत्ति भावात्मिका है। केवल तर्क बुद्धि या विवेचना के बल से हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते ❀ व्यक्ति सम्बन्ध हीन सिद्धान्त-मार्ग निश्चयात्मिका बुद्धि को चाहे व्यक्त हों, पर प्रवर्त्तक मन को अव्यक्त रहते हैं' × और 'मन की पहिली क्रिया' अनुभूति है, इसलिए मनोभावों तथा काव्य का 'सामाजिक महत्त्व' स्पष्ट हो जाता है' –

(क) दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य के आचरण के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं, बुद्धि नहीं। बुद्धि दो वस्तुओं के रूपों को अलग अलग दिखला देगी, यह मनुष्य के मन के वेग या प्रवृत्ति पर है कि वह उनमें से किसी एक का चुनकर कार्य में प्रवृत्त हो। (करुणा, ४८)।

(ख) किसी महानूर पुलिस कर्मचारी को जाकर देखिए, जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है । ऐसों को सामने पाकर स्वभावत यह मन में आता है कि क्या इनकी भी कोई दवा है इनकी दवा कविता है। (कविता क्या है, १६०)

संस्कृत के आचार्यों ने जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भावों के औचित्य पर विचार किया था, परन्तु शुक्ल जी का दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। आचार्य के सामने समस्या भावात्मक दृष्टिकोण तथा बुद्धि-व्यवसायात्मक दृष्टिकोण के बीच एक को दूसरे की अपेक्षा अधिक महत्व देने की न थी, क्योंकि उसका समाज तो स्वत ही भावात्मक दृष्टिकोण का समर्थक था। शुक्ल जी ने एक ओर तो यह ध्यान रखा है कि भावात्मक दृष्टिकोण का महत्व स्थापित होता चले दूसरी ओर भावों के परिष्कार का भी प्रयत्न किया है—उनको संस्कृत आचार्य की अपेक्षा समान का दोहरा ध्यान रखना है, फिर भी सफलता में कहीं भी न्यूनता नहीं दिखाई पड़ती। हमारे लेखक पर यह अतिरिक्त उत्तरदायित्व इस वैज्ञानिक बुद्धिवादी युग के कारण आ गया है, जिसमें 'काशी के ज्योतिषी और कर्मकाण्डी, कानपुर के बनिये और दलाल, कचहरियों के अमले और मुख्तार, – साहित्यिकों को 'कार्यभ्रष्टकारी

❀ कविता क्या है, १२७। × श्रद्धाभक्ति, ३१। – कविता क्या है, १२८-९

मूर्ख, निरे निठल्ले' समझते हैं, और अपने भावजगत् को संकुचिततर बनाते हुए सामाजिक जीवन को विषम से विषमतर बनाते जा रहे हैं।

अस्तु: इन मनोवैज्ञानिक निबन्धों के दो पक्ष हैं–एक शास्त्रीय और दूसरा सामाजिक। शुक्ल जी शास्त्रीय पक्ष में न संस्कृत आचार्यों का अनुकरण करते हैं, न मनोविज्ञान शास्त्रियों का; सामाजिक पक्ष में वे न तो उपदेशक या नीतिशिक्षक हैं, और न अखबारी मनोरंजनकारी लेखक भर परन्तु इन चारों प्रकार की शैलियों की अनेकधा छाप उनकी निबन्ध शैली पर पाई जाती है; लेखक की विशेषता यह है कि उसने इन सब का एक रासायनिक मिश्रण तैयार करके पचा डाला है जो सावधान पाठक की दृष्टि से तो नहीं बच पाता परन्तु सामान्य पाठक से ओझल रह सकता है।

(२)

इन निबन्धों की शैली का अध्ययन तीन भागों में किया जा सकता है–(क) सामान्य विशेषताएँ। (ख) शास्त्रीय पक्ष की विशेषताएँ (ग) सामाजिक पक्ष की विशेषताएँ। यहाँ लेखक का व्यक्तित्व अन्य स्थलों की अपेक्षा अधिक निखरा है, क्योंकि यहाँ उस पर कोई बन्धन न था (जैसा कि आलोचनात्मक या ऐतिहासिक रचनाओं में रहा है); शुक्ल जी के शेष साहित्य का अध्ययन यदि इन लेखों को पढ़ लेने पर किया जाये तो उनके रूप (दि मैन इन दी बुक) को समझना अधिक सुगम रहेगा।

सामान्य विशेषताओं में तीन बातें ऐसी हैं जो प्रत्येक साहित्यिक लेखक में होनी चाहिए वे हैं– (i) एक पैराग्राफ में एक ही विचार (ii) विचारों के पूर्वापर सम्बन्ध का ध्यान (iii) विचारों का स्वाभाविक क्रम। जिस लेखक को यह मालूम नहीं कि किस बात को पहिले कहना ठीक होगा और किसको पीछे, वह पाठक को भूलभुलैयों में डाल देता है। लेख की यह विशेषता होनी चाहिए कि एक पैराग्राफ को पढ़कर जो प्रश्न पाठक के मन में उगे उसी को आगे स्पष्ट किया जाय। इन तीन बातों के अतिरिक्त विचारात्मक निबन्धों को सफल बनाने वाली तीन बातें और हैं–विचारों की स्पष्टता, अनावृत्ति तथा सुगमता। प्रायः स्पष्टता तथा सुगमता के लिए बारबार दुहराने की आदत भी पड़ जाती है–शुक्ल जी इस दोष से बिलकुल बचे हुए हैं। साथ ही इन निबन्धों में भाषा का प्रसाद, शब्दावली की उपयुक्तता तथा वाक्यों की

सशक्त गठन भी ध्यान देने योग्य है; कहीं भी शिथिलता नहीं आती और न कहीं अस्वाभाविकता ही दीख पड़ती है।

शुक्ल जी का पैराग्राफ 'सूत्र' से प्रारम्भ होकर उसकी 'व्याख्या' करता हुआ, 'सार' पर पहुँच जाता है; सूत्र एक वाक्य का होता है और सार भी एक वाक्य का परन्तु व्याख्या का आकार निश्चित नहीं—इसमें सब कुछ आ सकता है; ऐतिहासिक तथा सामाजिक उदाहरण भी व्यंग्य-विनोद भी; भाषा भी अपेक्षाकृत हलकी ही होगी; प्राय चलती हुई समान्य पाठक के काम की। सूत्र को एक सूक्ति ही समझना चाहिए 'बेकन के मैक्जिम' की तरह, जिसमें नीति तो नहीं होती परन्तु मधुरता तथा भावुकता उतनी ही है; बेकन ने साम्यमूलक शब्दों + (एज या लाइक आदि) के प्रयोग से सरसता उत्पन्न की है, परन्तु हमारे लेखक ने साम्य का अधिक आधुनिक—सांकेतिक रूप ही रखा है

(क) ईर्ष्या अत्यन्त लज्जावती वृत्ति है। यह अपने धारणकर्ता स्वामी के सामने भी मुँह खोलकर नहीं आती। (ईर्ष्या, १२२)

(ख) यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। (श्रद्धाभक्ति, १८)
यह आवश्यक नहीं कि सर्वत्र तुलना की भावना ही हो, कुछ सूक्तियाँ तो समस्त होने के कारण विचार का विषय बन जाती हैं या रागपूर्ण होने के कारण सरस बन गई हैं:—

(क) बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। (क्रोध, १७८)

(ख) कभी कभी केवल एक साथ रहते-रहते दो प्राणियों में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि वे बराबर साथ रहें, उनका साथ कभी न छूटे। (श्रद्धाभक्ति, १६)

'सारांश यह' इन निबन्धों में सभी पाठकों का ध्यान आकृष्ट करता है, यदि यह सार न होता तो सामान्य पाठक लेखक की गम्भीर चिन्ता में न जाने कहाँ भटक जाता। बेकन तथा हैज़लिट के अनेक लेखों में सारांश वाले वाक्यांश 'टु कनक्लूड' 'दि थिंग इज प्लेन' आदि पाये जाते हैं; परन्तु वहाँ उनका प्रयोग भाषा शैली के लिए हुआ है और यहाँ विचार स्पष्टीकरण के लिए। शुक्ल जी अध्यापक थे; किसी भी

+ जैसे—(१) ब्यूटी इज एज़ समर फ्रूट्स, विह्च आर ईजी टु करप्ट एण्ड कैननौट लास्ट। —(आफ ब्यूटी)

(२) फौरच्युन इज लाइक दि मारकेट, विह्अर मैनी टाइम्स, इफ यू कैन स्टे ए लिटिल, दि प्राइस विल फौल —(आफ डिलेज़)

गंभीर विषय को समझाने में इस प्रकार की शैली उनके लिए निन्तात स्वाभाविक है।

अब इन निबंधों के शास्त्रीय पक्ष पर विचार कीजिए। हमारा लेखक सबसे पहिले एक मनोभाव का परिचय कराता है, फिर समान मनोभावों से उसकी तुलना करके अन्तर स्पष्ट करता है, कभी-कभी समान स्तर के मनोभाव से भी तुलना मिलेगी—जैसे, "दुःखात्मक भावों में आशंका की वही स्थिति समझनी चाहिए जो सुखात्मक भावों में आशा की" (भय), इस प्रकार प्रस्तुत मनोभाव का ठीक ठीक स्वरूप तथा क्षेत्र निश्चित करने के अनन्तर लेखक उस मनोभाव के सामाजिक पक्ष पर आ जाता है।

इस शास्त्रीय पक्ष में हमारा लेखक सामान्य परिचय से विशिष्ट स्वरूप की ओर जाता है, ज्यों ज्यों लेख में प्रगति होती जाती है त्यों-त्यों क्षेत्र सङ्कुचित होता जाता है, और शास्त्रीय पक्ष के पूरे होने तक केवल प्रतिपाद्य मनोभाव ही पाठक के सामने चित्रित रह जाता है। हमारा विचार है कि परिस्थिति चित्रण कदाचित् लेखक के मुख्यतः आलोचक होने के कारण है, वह मानो पाठक को सामान्य समझ कर उसके सामने पहिले केवल झलक लाता है; फिर रूपरेखा खींचता है, फिर भीतरी रेखाएँ खींचता है, तब रंग भरता है—उस समय पाठक के सामने वह रूप आता है जिसकी उसको प्रतीक्षा थी। यह शैली है तो बहुत अच्छी, इससे एक कठिन विषय का भी प्रतिपादन अपेक्षाकृत सरल बन जाता है। परन्तु एक दूसरी शैली भी है जिसमें प्रस्तुत विषय का ठीक ठीक लक्षण देकर फिर लक्षण में आये हुए अंगों की व्याख्या की जाती है, यह पिछली लक्षण वाली शैली शुक्ल जी की वर्णनवाली शैली से कठिन तथा शास्त्रीय तो निश्चय ही अधिक होती है परन्तु उसमें एक बड़ा लाभ यह है कि पाठक के सामने प्रस्तुत विषय का वैज्ञानिक रूप आ जाता है। शुक्ल जी के पक्ष में यह कह सकते हैं कि यह वर्णनात्मक शैली साहित्यिक है, सरल है, अधिक सरस है।

एक उदाहरण लीजिए। 'ईर्ष्या' नामक निबन्ध शुक्ल जी ने लिखा है, बेकन ने भी (ऑफ एन्वी) तथा अरस्तू ने भी (ऑफ एन्वी)। बेकन का तो दृष्टिकोण ही अलग है, शेष दो की तुलना कीजिए। यूनानी लेखक लिखता है:—

"ईर्ष्या वह दुःख है जो अपने बराबर वालों के सुख से उत्पन्न होता है, इसका जन्म अपने किसी कष्ट से नहीं होता प्रत्युत दूसरे के सुख से होता है।

'अपने बराबर वालों' से मेरा अभिप्राय उनसे है। जो गोत्र, आयु, योग्यता नाम या साधनों में हमारे बराबर हैं।"*

इसकी तुलना के लिए शुक्ल जी का पहिला वाक्य देखिए:—

"जैसे दूसरे के दुःख को देख दुःख होता है वैसे ही दूसरे के सुख या भलाई को देखकर एक प्रकार का दुःख होता है जिसे ईर्ष्या कहते हैं" (ईर्ष्या, १०७)

शुक्ल जी के इस वाक्य में दो कमियाँ रह गई हैं, प्रथम तो यह कि इसमें 'दूसरे' को स्पष्ट नहीं किया गया—क्या प्रत्येक व्यक्ति के सुख या भलाई को देखकर दुःख होता है ? नहीं, ऐसा तो नहीं होता। दूसरी कमी है होता है' का प्रयोग—इस क्रिया का अर्थ नित्यता का द्योतक है अर्थात् 'अवश्य होता है,' और 'सर्वत्र होता है'; परन्तु वास्तविक जीवन यह बतलाता है कि ईर्ष्या का दुःख नित्य नहीं है—कुछ लोग ईर्ष्या करते हैं; कुछ नहीं भी करते। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने अपनी मुख्य कमी ('दूसरे' के अर्थ) को आगे चलकर सुधार लिया है:—

'ईर्ष्या उन्हीं से होती है जिनके विषय में यह धारणा होती है कि लोगों की दृष्टि हमारे साथ-साथ उन पर भी अवश्य पड़ेगी या पड़ती होगी।' (ईर्ष्या, १०९)

परन्तु यह सुधार भी वैज्ञानिक फल नहीं दे पाता।

यदि सामान्य पाठक इस लेख को पढ़ने पर इस मनोभाव का ठीक-ठीक लक्षण जानना या बतलाना चाहे, तो वह कठिनाई में पड़ जाता है।

इस विशेषता का मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि लेखक का ध्यान वैज्ञानिक व्याख्या पर नहीं है वह तो साहित्यिक है उसको विज्ञान की नपी-तुली परिभाषाओं से इतना क्या डर ? शुक्ल जी के सामने वर्णन के द्वारा, पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट करते हुए, स्वरूप चित्रण तो दिखाई पड़ता है, परन्तु वैज्ञानिक निर्दोषता नहीं। जो बात

---

* एन्वी एज़ ग्रीफ फॉर दि प्रोसपैरिटी ऑफ सच एज़ अवरसेल्व्ज़, एराइजिंग नॉट फ्रोम एनी हर्ट दैट वी बट फ्राम दि गुड दैट दे, रिसीव। एण्ड एज़ अवरसेल्व्ज़ आइ कॉल दोज़ दैट आर ईक्वल टु अस इन ब्लड, इन एज, इन एबिलिटीज़, इन ग्लोरी, और इन मीन्स।"

(ऑफ एन्वी, एरिस्टोटल्स पोइटिक्स)

इस निबंध के विषय में कही गई है, वह ज्यों की त्यों दूसरों पर भी लागू होती है।×

यह कहना बड़ा कठिन है कि शुक्ल जी का प्रतिपादन किस सीमा तक निर्दोष है, कुछ बातें ऐसी मिल जाती हैं जिनमें सभी लोग सहमत नहीं हो सकते। जिस प्रकार संयुक्त शीर्षकों वाले तीन निबन्धों में आपस का भेद स्पष्ट नहीं हो पाता—लोभ तथा प्रीति का जो अन्तर उन्होंने बतलाया है, वही काफी नहीं जान पड़ता; यही बात लज्जा और ग्लानि की है; इसी भाँति "जिन्हें यह कहने में संकोच नहीं कि 'हम बड़े संकोची हैं' उनमें संकोच कहाँ"—यह वाक्य सभी पाठकों को मान्य नहीं हो सकता। 'भय' तथा 'क्रोध' नाम वाले लेखों में यह प्रौढ़ता नहीं आ पाई जिसकी लेखक से आशा थी। फिर भी यह निश्चय है कि अपने प्रयत्न में लेखक को पूरी सफलता मिली है।

निबन्धों के सामाजिक पक्ष की अलग शैली है, यहाँ गंभीरता के स्थान पर व्यंग्य तथा विनोद, और तत्सम शब्दों के स्थान पर देशज तथा विदेशी शब्दों का प्रयोग है। परन्तु असंस्कारिता नहीं मिलती, साहित्यिकता है—*गालियां नहीं बकी गईं, चुटकियाँ ली गई हैं।* इन निबन्धों को उत्तम तथा मध्यम पुरुष में लिखने का तो प्रश्न ही नहीं आता, अपनी कहानी भी कम स्थलों पर है जहाँ है भी वहाँ भी व्यंग्य के लिए ही व्यक्ति को महत्व देने के लिये नहीं ('लोभ और प्रीति' में लखनवी महाशय की चर्चा)। हाँ, दृष्टान्त अवश्य सुन्दर हैं—ऐतिहासिक भी जैसे चाणक्य का (क्रोध, १३७), और लोक प्रसिद्ध भी जैसे दो स्त्रियाँ और एक बच्चे का (लोभ और प्रीति, ८१)। परन्तु ये सारे दृष्टान्त हमारे लेखक को बेकन के साथ स्थान नहीं दिला सकते, उसने बहुत दुनिया देखी थी।

शुक्ल जी की विशेषता यह है कि वे अपने समय के सभी आन्दोलनों में रुचि दिखलाने गये हैं, एक ओर तो पूँजीपतियों को खरी-खरी सुनाते हैं*। दूसरी ओर बाबुओं पर भी चोट है S, तीसरी ओर

× तुलना के लिए देखिए—अरस्तू के 'ऑफ-शेम' 'ऑफ पिटी और कम्पैशन' तथा शुक्ल जी के 'लज्जा और ग्लानि', 'करुणा'—विशेषतः इनके लक्षण तथा इनके क्षेत्र।

* मोटे आदमियो, तुम जरा सा दुबले हो जाते—अपने अँदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता। (लोभ और प्रीति, ७७)।

S पर आज कल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का विषय बन गया है। (वही, ७१

नेता लोग भी उनसे न बच पाये+। वे पुलिस वालों को भी सचेत करते हैं तथा तथाकथित पंडितों को भी। कबीर के समान हमारा लेखक समाज में किसी असामाजिकता को नहीं सहन कर सकता, यहाँ तक कि ऐसे स्थलों को भी खोजा जा सकता है जहाँ किसी से कुछ कहने की आवश्यकता न थी, फिर भी लेखक अपनी बात कहते कहते और कुछ कहने को रुक गया है, जैसे 'लोभ और प्रीति" में मोटे आदमियों को शाप (पृ० ७७)। प्राय आघात किसी प्रदेश, जाति या व्यवसाय को नहीं पहुँचाया गया, प्रत्युत केवल दुर्गुणियों को ही डाट बतलाई है—यदि वे चाहते तो कजूसी में मारवाड़ियों, नेतागिरी में कॉंग्रेसियों तथा आडम्बर मे ब्राह्मणों को पकड़ सकते थे। 'लखनवी', 'कलावन्त' तथा 'छायावादी' (भय, १२६), 'दूकानदारजी', आदि पर उनका रोष सकारण है। दूसरे धर्म पर बहुत-सूक्ष्म व्यग्य मिल सकता है, परन्तु उसका उद्देश्य मजाक न हो कर अपने विचार की प्रतिष्ठा ही है।*

शुक्लजी की विनोद प्रिय प्रवृत्ति का जैसा सुन्दर रूप इन निबंधों के सामाजिक पक्ष मे मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं। कहीं एक शब्द पर ही व्यंग्य है, जैसे 'दूकानदारजी', 'कलावन्त', 'ब्राह्मण देवता' (पृ० १३५), 'खुशामदखाने' आदि। कहीं पूरा वाक्य ही अभीष्ट तक पहुँचाता है.—

(क) ईर्ष्या निस्वार्थ होनी चाहिए। (पृ० १११)।

(ख) न उन्हें मक्खी चूसने मे घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया। (८४)

कुछ स्थलों पर अभिधा से ही काम लिया गया है परन्तु वहाँ भी साहित्यिकता का पूरा ध्यान है—

(क) अब मेल से क्या लाभ होते है, यह न जाने कितने झगडालू बनाते हैं और न जानें कितने लोग सुनकर झगड़ा करते हैं। (८०)

(ग) साराश यह है कि एक बेवकूफी करने मे लोग सकोच नहीं करते और सब बातों मे करते हैं। (६५)

+ भाइयो ! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा। (वही, ७६)

* जैसे ईसाइयो के 'सरमन आफ दि माउन्ट' पर यह व्यंग्य, —

'ये अवतार अलग टीले पर खड़े होकर उपदेश दने वाले नहीं थे, बल्कि मानव जीवन में पूर्ण रूप से सम्मिलित होकर उसके एक एक अंग की मनोहरता दिखलाने वाले थे। (श्रद्धाभक्ति, ४१)

लेख को सरल बनाने का एक अन्य साधन दैनिक जीवन से उपयुक्त स्थलों की छाँट है. शुक्ल जी इस कला में बड़े चतुर थे; प्रायः सभी लेखों में दैनिक जीवन् के दृष्टान्त ही अधिक हैं, ऐतिहासिक या साहित्यिक कम। कुछ चित्र तो बड़े ही सुन्दर हैं :—

"*यदि आपको किसी के पीले दाँत देख घिन लगेगी तो आप अपना मुँह दूसरी ओर फेर लेंगे; उसके दांत नहीं तोड़ने जायेंगे। पर यदि जिधर-जिधर आप मुँह फेरते हैं उधर-उधर वह भी आकर खड़ा हो तो आश्चर्य नहीं कि वह थप्पड़ खा जाय।*" (घृणा, ६८)

यदि गद्य सचमुच कवियों की कसौटी है और निबंध गद्य का परिपाक है, तो इन निबंधों से निश्चय ही शुक्ल जी को 'महान् कवि' कहा जा सकता है। लेखक के सामने भी वही लक्ष्य था जो "भारतीय प्रबंध काव्यों" के मूल में रहता चला आया है अर्थात् "मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की छानबीन" (७६), और वह भी वैज्ञानिक अध्ययन के लिए नहीं प्रत्युत "रागात्मिका वृत्ति व प्रसार" (५) के लिए और पवित्र भावक्षेत्र को गन्दा होने से बचाने के लिए। अस्तु इन लेखों के सामाजिक पक्ष में लेखक का जो वास्तविक रूप दिखलाई पड़ता है यह अन्यत्र नहीं है; हृदय के अनेक सुन्दर रहस्य अतीव रमणीय शैली में व्यक्त किये गये हैं; जिनमें निहित राग उनको लेखक के व्यक्तित्व की अमूल्य सम्पत्ति घोषित करता है। ऐसे मनोहर स्थल प्रत्येक निबंध में हैं, परन्तु जो विषय लेखक के जितना अधिक निकट है उसमें उनकी उतनी ही अधिकता मिलेगी :—

(क) वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। (करुणा, ५०)

(ख) *दूसरों का भय हमें भगा मरता है, हमारी बुराइयों को नहीं।* (लज्जा और ग्लानि, ५६)

(ग) अन्य का त्याग, अनन्य और सच्चे लोभ की पहिचान है। (लोभ और प्रीति, ७५)

(घ) राम का नाता सारे संसार से नाता जोड़ता है, तोड़ता नहीं। (वही, ६१)

(ङ) ईर्ष्या का दुख प्रायः निष्फल ही जाता है। (१२१)

कहानीकार जयशंकर 'प्रसाद'

खड़ी बोली के दो अमर साहित्यिकों प्रेमचन्द तथा प्रसाद, में से यदि प्रेमचद अपने समय का चित्र खींचने में सिद्धहस्त थे, तो प्रसाद की प्रतिष्ठा का आधार उनके साहित्य में भारत भूमि की आत्मा 'भारतीयता' की अमिट छाप है। साहित्य के दूसरे रूपों के समान कहानी को भी प्रसादजी ने केवल सामयिक समस्याओं के ही लिये नहीं लिखा, प्रत्युत वे मानव हृदय के अखिल साम्राज्य का रहस्य पाठक के सामने सुन्दरतम रूप में रखना अपना कर्त्तव्य समझते थे। उनकी कहानियों को पढ़ते हुए अमीरों की रंगरेलियां, दुखियों की दर्द भरी आहें, रंगमहलों में घुल घुल कर मरने वाली बेगमें, अपने आप सिरमें चक्कर काटती रहती हैं (मधुआ-आँधी)। माया और ममता, रूप और यौवन, विश्वास और प्रेम तथा सदेह और भय उनके प्रिय विषय हैं, और इन्हीं से लिप्त 'पागल दुनिया' के चित्र प्रसाद जी की कहानियों में मिलते हैं।

प्रसाद जी के पाँच कहानी सग्रहों में केवल ६६-७० कहानियां हैं, 'ग्राम' उनकी प्रथम, तथा 'इन्द्रजाल' की 'सालवती' उनकी अन्तिम कहानी है। प्रसाद जी के हाथों से 'इन्दु' ने एक विशेष प्रकार की कहानियों को जन्म दिया, और भाषा की सस्ती चलतुलाहट तथा क्षण-वारी सामयिकता से भिन्न एक मौलिक एव गभीर पद्धति चलाई, जिसमें भावातिरेक के साथ साथ सूक्ष्म चितन भी चरम सीमा तक पहुँचा है जिसमे भारतीयता का पूरा ध्यान रख कर ही वर्तमान समस्याओं पर सोचा गया है, जिसमें उपदेश के स्थान पर प्रेरणा है, तथा राजनीतिक आंदोलनों के स्थान पर दार्शनिक एव मनोवैज्ञानिक सत्यों का उद्घाटन है। प्रसाद का सफल अनुकरण न हो सकने का कारण लेखकों में वैसी प्रतिभा का अभाव ही समझना चाहिये।

प्रसाद का प्रथम सग्रह 'छाया' हिंदी का प्रथम मौलिक कहानी सग्रह था, तदनन्तर 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आंधी' तथा "इंद्रजाल" क्रमश प्रकाशित हुए। 'छाया' में पाठकों को जो आभास मिला था उसकी 'प्रतिध्वनि' कुछ समय पीछे हुई, और फिर 'आकाश दीप' साहित्य-गगन में ऊँचा उठकर मार्ग प्रदर्शन करने लगा, यहाँ तक कि मनोभावों-की एक 'आँधी' आई और उस 'इंद्रजाल' में विस्मृत हो कर पाठक

अपने को भूल गया। 'छाया' तथा 'प्रतिध्वनि' में नवीन सरणि के लिये थोड़ा-थोड़ा यत्न किया गया है, इनमे कला की पूर्णता न मिलेगी, परंतु शेष तीन संग्रह कहानी क्षेत्र में प्रसाद के स्थान को अमर बनाने के लिये पर्याप्त हैं। यद्यपि कहानियों का सापेक्षिक मूल्यांकन बड़ा कठिन है, फिर भी यदि प्रसाद के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने में कला की दृष्टि से सर्वाधिक सफल सात कहानियों का नाम लिया जावे तो काल क्रमानुसार वे इस प्रकार ठहरती हैं 'आकाशदीप', 'देवदासी', (आकाशदीप), 'मधुआ','पुरस्कार', (आंधी) 'सलीम', 'नूरी' तथा 'सालवती', (इंद्रजाल)।

जिस युग में प्रसाद ने इनकी सृष्टि की उसका प्रभाव इन कहानियों में साहित्य के दूसरे रूपों की अपेक्षा अधिक मिलेगा परंतु राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था की अपेक्षा सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था को प्रसाद जी अधिक महत्त्व देते थे। राजनीति से सम्बंध रखने वाली कोई भी कहानी नहीं है, परंतु अर्थनीति की आलोचना 'दुखिया', (प्रतिध्वनि), 'भिखारिन', 'अपराधी', (आकाशदीप), 'मधुआ' 'बेड़ी' (आंधी), छोटा जादूगर (इंद्रजाल) आदि में स्पष्ट देखी जा सकती है, प्रायः शोषक को राजा या ठाकुर (जैसे इंद्रजालमें) कह कर राजनीति को अर्थनीति में ही मिला दिया है। सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था पर प्रसाद को बहुत कुछ कहना है, विधवा, देवदासी, वेश्या तथा अछूत की विडम्बनायें उनके चित्त को बार-बार कचोटती हैं, 'विरामचिन्ह' (इंद्रजाल) शुद्ध अछूतोद्धार का प्रभाव कहा जा सकता है, 'चूड़ीवाली' (आकाशदीप) तथा 'सालवती' (इंद्रजाल) मनोभावों के रहस्य के साथ-साथ वेश्या समस्या से भी सम्बंध रखती है।

प्रसादजी कवि थे इसलिये उनको "संयोग" तथा "कठोर नियति" में भी विश्वास था, "संसार में मनुष्य को बहुत से ऐसे काम करने पड़ते हैं, जिन्हें वह स्वप्न में भी नहीं सोचता" (आँधी) अतः आकस्मिक घटनाओं की मधुर क्रीडा भी इन कहानियों में देखने को मिलती है। अदृष्ट न जाने कहाँ से दो अपरिचितों को एक स्थान पर लाकर मिला देता है, कभी कभी तो 'दो मन दो विरुद्ध दशाओं में चलकर भी नियति से बाध्य" रहते हैं "एकत्र रहने के लिये" (सलीम—आँधी) फलस्वरूप नाटकों के समान ही कई कहानियों में व्यक्तियों का सहसा आगमन हो जाता है किसी निस्तब्ध रजनी में, और उसी क्षण से कथा एक नया रूप ग्रहण कर लेती है। निशा के घोर अंधकार में ऐसे व्यक्तियों का अकस्मात् आकर द्वार खटखटाना

लेखक को बहुत प्रिय है, 'ममता', 'स्वर्ग के खंडहर में', 'अपराधी' (आकाशदीप), 'चित्रवाले पत्थर' (इन्द्रजाल) आदि इसके कुछ उदाहरण हैं। चिरकाल के बिछुडे हुये कभी न कभी मिल जाते हैं, जैसे 'चूड़ीवाली' 'बिसाती' (आकाशदीप) दासी (आँधी), 'नूरी' (इद्रजाल) मे तथा जिनको कभी स्वप्न मे भी एक स्थान पर पहुँचने की आशा न थी उनको एक साथ देखकर पाठक एकदम आश्चर्य में डूब जाता है (आँधी)। लेखक का ऐसा विश्वास है कि जब संसार-चक्र का नियमन एक ही शक्ति कर रही है तो एक व्यक्ति की सुप्त या जाग्रत भावना का वैसा प्रभाव दूसरे व्यक्ति पर अवश्य पड़ना चाहिये, यहाँ तक कि प्रत्येक मनोदशा का सम्बन्ध किसी न किसी घटना से होता है, भले ही वह घटना आज विस्मृति के कुहरे मे छिपे गई हो इसीलिये हमारे हृदय में किसी को देखकर लालसा तभी जगती है जब हमारा उससे कोई पूर्वसम्बन्ध, भले ही जन्मान्तर का, रहा हो। इस प्रकार प्रसाद की घटनाओं के कारण मनोभाव, तथा मनोभावों की कारण घटनाएँ हैं।

प्रसादजी की अधिकतर कहानियाँ मनोभावों के रहस्यों को समझने के लिये ही लिखी गई हैं, इसलिये कहीं कहीं घटनाओं मे कठोर स्वाभाविकता का अभाव मिलेगा, घटनाएँ तो साधन भर हैं समझने का माध्यम मात्र, वे सर्वत्र आधार भी नहीं मानी जा सकतीं कुछ विद्वान् तो यहाँ तक कहते हैं कि प्रसाद की कहानियों में प्रेम की ही चित्र विचित्र क्रीडा मिलती है। यदि यह ठीक है तो 'प्रेम' शब्द की व्याख्या आवश्य हो जावेगी, प्रसादजी का 'प्रेम' से अभिप्राय 'हृदय की कोमलता' से है जिसम आत्मीयता वाले सभी भाव सम्मिलित हैं। स्वभाव से प्रत्येक हृदय कोमल होता है, परतु जीवन की विषमताएँ अभाव तथा दुःख उसको कठोर बना दिया करते हैं, यह परिवर्तन स्थायी नहीं, पत्थरों में भी जलस्रोत होते हैं, देखना केवल यह है कि किन किरणों के स्पर्श से कौनसा पत्थर पिघलता है, प्राय रजनी का सौंदर्य देखते देखते (रमला आकाशदीप) अंतर की भावना सचेत हो जाती है, या किसी व्यक्ति को देखकर ही सोई हुई सौन्दर्यतृष्णा जाग" उठती है (समुद्रसंतरण आकाशदीप), इत्याद्यवसायी जलदस्यु भी "अपने हृदय के एक दुर्बल अंश 'कोमलता' पर श्रद्धा" करने लगता है (आकाशदीप)। स्त्री के लिये जीवन उतना संघर्षमय नहीं है इसलिये उसमें पुरुष की अपेक्षा अधिक कोमलता है, प्राय. वह प्रकृति से मन की उमगें पाती है और पुरुष को अपने विभ्रम से सतृष्ण बनाकर निर्मम होने

से बचा लेनी है, यही स्त्री पुरुष का अनन्य मिलन सुख की कुंजी है जिसका पूर्ण विकास गृहस्थ जीवन में मिलता है क्योंकि उसमें सेवा ही नहीं "...... विलास का भी अनन्त यौवन है ......इसलिये वह प्रेय भी है और श्रेय भी है" (चूड़ीवाली)।

जबतक मन पर कठोर कर्तव्य या अनिवार्य संघर्षका आधिपत्य रहता है तब तक सारी भावनाएँ सोती रहती हैं परंतु जैसे ही वह पिघलने लगता है समग्र चेतना साकार हो उठती है ऐसी दशा में यह भी सम्भव है कि जगी हुई भावनाओं में से कुछ परस्पर में विरोधिनी हों और उस कोमलता में भी आंतरिक संघर्ष छिड़ जावे। आकाशदीप की नायिका चम्पा जब तक अपनी रक्षा तथा मुक्ति में तत्पर थी तब तक उसके सामने कोई कोमल स्मृति न आई, परंतु सुख की साँस लेते ही उसके मन की स्वाभाविक कोमलता जग गई। अतः जब जब वह अपने सहायक जलदस्यु को सतृष्ण दृष्टि से देख कर अपनाने लगी तब तब उसके मन में अपने स्वर्गीय पिता की स्मृति जग गई और उस दस्यु को ही अपने पिता का हत्यारा समझकर उसने कंचुकी से कृपाण निकाल लिया।

:क वहाँ एक आलिंगन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिंधु का. किंतु उस परिरम्भ में सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने अपनी कंचुकी से एक कृपाण निकाल लिया।

:स किसी आकस्मिक झटके ने एक पल भर के लिये दोनों के अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने कहा।

सन्तान-सुलभ स्नेह तथा युवती-सुलभ प्रणय का निष्ठुर संघर्ष प्रसाद जी के नाटकों में देखने योग्य है, कहानियों में देश-प्रेम तथा प्रणय के भी अनेक संघर्षमय चित्र हैं। 'पुरस्कार' की नायिका मधूलिका व्यक्तिगत कारणों से मगध के राजकुमार अरुण के प्रति स्निग्ध-हृदया है, परन्तु देश के रक्षक पिता का ध्यान आते ही उसकी देशभक्ति बलशालिनी बन जाती है, अंत में उसने दोनों का प्रशंसनीय निर्वाह किया। नूरी ने याकूब को प्रेम किया था परन्तु वह देशप्रेम की धुन में उसको ठुकराता रहा, अन्त में बन्दी हो जाने पर अपनी परवशता में उन्होंने अपने आपको पहिचाना, याकूब ने अपने हृदय की टीस को उस समय सफल करना चाहा जब नूरी का "प्रेम करने का दिन" न रह गया था और वह लाचार होकर "मोह का जाल छिन्न" कर चुकी थी।

ध्यान दो बातों पर जाता है। एक तो यह कि यह प्रेम दोनों दशाओं में जग सकता है, संघर्षमय मानस जब सुख की सांस लेता है तब तो इसका जाल फैलता ही है, अपने विपन्न दिनों में भी ठुकराये हुये प्रेम को पा सकने की इच्छा होती है, "दारिद्रय की ठोकरों से" व्यथित और अधीर होकर हम "उस बीते हुये क्षण को लौटा लेने के लिये विकल" हो उठते हैं, (पुरस्कार)। प्रेम का यह रहस्य बड़ा निष्ठुर है, यह नहीं कहा जा सकता कि हृदय कब और किसके सामने पराजित हो जावेगा, मगध का राजकुमार एक विपन्न कृषकबालिका से प्रणय की भिक्षा माग सकता है, जिससे घृणा करते हैं उससे भी हृदय हार जाता है (आकाशदीप), अपने हृदय पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता वह भी तो अपना नहीं है, जब अपना ही हृदय धोखा देता है तो दूसरे के हृदय का क्या भरोसा ? दूसरी बात यह है कि हृदय की यह कोमलता सर्वदा प्रणय नहीं होती, जिसके साथ कुछ परिचय हो जाता है उसीसे घनिष्ठता होने लगती है और फिर यह इच्छा होती है कि यह हमसे दूर न हो, जिस सलीम ने प्रेमा का सर्वस्व नष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया था प्रेमा को न जाने क्यों उस अभागे पर ममता हो आई उसने कहा, सलीम तुम्हारे घर पर कोई और नहीं है, तो वहा जाकर क्या करोगे ? यहीं पड़े रहो (सलीम इन्द्रजाल)।

"इन्द्रजाल" की कहानियों में से कुछ तो उसी सत्य का उद्घाटन करती हैं जो हमारे लेखक की अन्य अंतिम रचनाओं में है, हमारा अभिप्राय विश्वास सन्देह, अतिवाद समरसता के द्वंद्वों से है। सदेह तथा प्रेमाभाव जीवन को प्रखर, नीरस तथा भयानक बना देते हैं (नीरा आंधी)। घरेलू सुख का काँटा पत्नी का पति पर अविश्वास तथा पति का पत्नी के आचरण में सदेह है (भीख में), जीवन भार हो जाता है और पति-पत्नी आत्मविश्वास भी खो बैठते हैं (परिवर्तन)। कुछ व्यक्ति भावना के अतिवाद में पड़कर निराश तथा "विरागी" बन जाते हैं (चित्र वाले पत्थर), रामनिहाल गोसाईं एक सन्देहग्रस्त प्राणी है, वह समझता है कि मनोरमा उसको प्यार करती है और वह श्यामा को प्यार करता है (सन्देह)। 'कामायनी में भी श्रद्धा' (विश्वास करना तथा विश्वास देना) एवम् समरसता (भावना तथा विचार शक्ति का संतुलन) को ही सुख की कुंजी माना गया है।

प्रसाद जी की कुछ कहानियाँ वास्तविक न होकर सांकेतिक हैं इनमें कथा तो मिलती है परंतु उसका रूप उतना स्पष्ट नहीं है सम्भवत

यह गद्यगीतों का प्रभाव हो, या प्रसाद का दार्शनिक कवि हृदय यहां मचलकर अपनी हठ कर बैठा हो। 'कला तथा 'प्रणयचिन्ह' (आकाश दीप) इसी प्रकार की कहानियां हैं। कला के पात्र हैं 'रूप', 'रस', तथा 'कला और छायावाद यह व्यापक विश्व है जहाँ वे एक दूसरे को अधिकाधिक अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हैं, रसदेव कवि तथा रूपनाथ चित्रकार है, चित्रकार "कला का अपने मनानुकूल चित्र नहीं बना पाया परन्तु भिक्षुकों में नीरव जीवन बिताने वाला कवि सफल हुआ, रूपा को भूलकर वह कला को पा गया और कला ने "उस दूर खड़े कंगाल कवि के चरणों में श्रद्धाञ्जलि" चढ़ा दी। 'प्रणयचिह्न' एक सुन्दर प्रेम कथा है, इसमें नाव, अंगूठी, रमणी मांझी, तथा योगी क्रमश जीवन, हृदय, प्रेयसी, प्रेमी, तथा प्रकृति के लिये प्रयुक्त हुये जान पड़ते हैं प्रेम की पूर्णता विलास में नहीं प्रत्युत प्रेमी को निहारते हुये जीवन नौका खेने में है जिसके फलस्वरूप वह अपना हृदय दूसरों को दे देती है तथा स्वयं प्रकृति से उमंगें प्राप्त करती है। 'रमणी ने हँस कर पूछा, केवल दूसरों या स्वयं भी ? उत्तर मिला 'नाव स्वयं बहेगी मैं केवल देखूँगा ही।

'चित्रमन्दिर' कहानी (इन्द्रजाल) पर भी विचार कर लें, इसकी समानता कामायनी की कथा से देखी जा सकती है। केवल प्रागैतिहासिक वातावरण के ही लिये नहीं प्रत्युत 'मनुष्य जीवन की दोनों प्रधान अभिव्यक्तियों' 'रोना तथा हँसना' के विकास के लिये भी। मानव जीवन की दो आरम्भिक आवश्यकतायें हैं 'काम और भूख', 'नर के लिये दोनों ही अहेर" हैं "नारी हो या पशु', परन्तु नारी की आवश्यकता उस समय होती है जब खाने के लिये पर्याप्त सामग्री संचित हो, "एक हिरन के न पाने पर एक युवा नर अपनी प्रेयसी नारी को छोड़कर चला जाता है, उसे भूख है केवल भूख"। परन्तु नारी ? उसका हृदय संवेदनशील हो रहा था वह भय तथा स्नेह दोनों के बीच में उलझ गई। वह रोती थी और हँसती थी, हँसती थी फिर रोती थी। यही कला का जन्म है जिसका श्रेय नारी को है। आज भी रोना तथा हँसना दोनों अभिव्यक्तियों पर उसका वैसा ही अधिकार बना हुआ है।

प्रसादजी की अधिकतर कहानियाँ ऐतिहासिक हैं और रूप यामों के समान यहाँ भी उनका झुकाव मांसलता से ऐतिहासिकता की ओर

होता गया है। यह इतिहास नाटकों के समान किसी विशेष युग का न होकर सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक का है, 'चित्रमंदिर' प्रागैतिहासिक युग की कथा है तो 'चूड़ीवाली' वर्त्तमान इतिहास की, बीच में हिंदू युग भी है तथा मुसलमान युग भी, भारत भी है तथा बृहत्तर भारत भी, 'गुंडा' में अंग्रेजी शासन की चर्चा भी आ गई है। लेखक ने 'सामायिक इतिहास' को काफी महत्व दिया है और मुसलमान इतिहास का गहन परिचय भी इन कहानियों में मिलेगा, ये दोनों बातें साहित्य के दूसरे रूपों में उसको अच्छी न लगी थीं। लेखक जिस युग से कथावस्तु लेता है उसकी आत्मा में प्रवेश कर जाता है तथा अनुकूल वातावरण के सृजन में उसको पूरी सफलता मिली है। इतिहास का केवल वह रूप तथा वह दृश्य ही लिया गया है जो लेखक के प्रिय मनोभावों की अभिव्यक्ति में सहायक हो, या किसी तथ्य पर उसके मौलिक विचारों का पाठक के सामने रख सके।

इस व्यापकता का प्रभाव पात्रों पर पड़ा, आदिम मानव से लेकर मधुआ एवं घीसू तक, तथा जंगली रमला से लेकर मंत्री की दुहिता ममता तक को मुख्य पात्रों का स्वरूप प्राप्त हुआ है। 'सालवती' के सभी पात्र महान् हैं, तथा 'बेड़ी', 'घीसू', 'ग्रामगीत' आदि के सभी पात्र साधारण। पात्रों का चित्रण वर्गगत न होकर व्यक्तिगत है, परन्तु पुरुष में पुरुषत्व तथा नारी में नारीत्व सर्वत्र मिलेगा। भिन्न भिन्न कालों, संस्कृतियों तथा वर्गों के पात्रों में एक ही प्रकार का हृदय दिखाकर मानो लेखक ने इस बात पर जोर दिया है कि वस्तुतः सभी मानव हैं बाहरी आवरणों में उनका मानवत्व भले ही छिप जाये परन्तु कभी न कभी वह अपने असली रूप में अवश्य प्रकट हो जाता है। ऐसी कहानियाँ केवल ५, ६ ही हैं जिनमें कोई स्त्री पात्र नहीं, अन्यथा युवती की सरल उमंगों के बिना हमारी कथा वस्तु चल हीं नहीं पाती। पुरुष पात्रों में बालक तथा वृद्ध तो बहुत ही कम हैं, युवक तथा हृदय में टीस या महत्वकांक्षा भरे हुये युवक ही पाठक के सामने आते हैं। कहानियों में पात्रों की संख्या अधिक नहीं है, प्राय पात्रों की संख्या से कहानी कला का कुछ आभास मिल सकता है।

प्रसादजी की कहानियाँ वर्णन से भी प्रारम्भ होती हैं तथा कथोपकथन से भी। जहाँ वर्णन है वहाँ काव्य का सा आनन्द मिलता है 'पुरस्कार,' (सालवती, बनजारा'), जहाँ कथोपकथन है वहाँ नाटकीयता

प्रशसनीय है ('आकाशदीप, व्रतभग')। वर्णन या तो प्रकृति के हैं या समारोहों के', प्रेमचन्द के समान प्रतिदिन के जीवन के नहीं। कथोपकथन से प्रारम्भकरते हुये लेखक न तो उन पात्रों के नाम बतलाता है और न उनका परिचय देता है, फलत पाठक की उत्सुकता बडी सुन्दर कल्पना करने लगती है। कहानी का अन्त तो प्रारम्भसे भी अधिक मार्मिक होता है, प्राय कथा की उत्सुकता शान्त नहीं होती और पाठक अपने हृदय को टटोलता हुआ कुछ अनुभव करने लगता है। वस्तुत ये कहानियाँ जिन मनोभावों के लिये आती है उनका सुन्दरतम रूप दिखाकर अपना अन्त कर लेती है पाठक भले ही कुछ पूछता रहे (पुरस्कार, आकाशदीप)। 'पुरस्कार' के अन्त में हम यह जानना चाहते हैं कि क्या राजा ने दोनों को क्षमा कर दिया या प्राण दड दिया, या एक को प्राण दड मिला दूसरे को क्षमा मिली, 'सलीम' के अन्त मे यह जानना कितना अच्छा और रहता कि क्या कभीपेशावर मे सलीम की प्रेमा से भेंट हो सकी, इसी प्रकार 'नूरी' के अन्त मे नूरी का अन्त जानने की इच्छा होती है। उत्सुकता मे कथा का अवसान कर देना लेखक की कला का दोष नहीं, प्रत्युत एक प्रशसनीय विशेषता है।

लेखक को वर्णन से बडा प्रेम है, वह कवि था और प्रकृति की उपासना उसके जीवन का एक अंग बन गई थी। पूर्णमासी की चन्द्रिका मे रजनी का रमणीय रूप निहारकर सभी सताप दूर हो जाते हैं, रमणियों का जल मे पैर डालकर बैठना तो लेखक को बार बार अपनी ओर आकृष्ट करता है (सालवती, रूप की छाया, रमला)। रमणी तथा प्रकृति एक दूसरे को उन्मादकारी बना देती हैं और मन में लालसा "जन्मान्तर की स्मृति" बनकर जग जाती है। इन कहानियों मे विनोद की योजना का अभाव है, फिर भी 'भिखारिन' (आकाशदीप) का यह परिहास कितना मधुर है

निर्मल को देखते ही उसने कहा ' बाबूजी तुम्हारा बच्चा फूले फले, बहू का सोहाग बना रहे, आज तो मुझे कुछ मिले।

"अरे अभी बाबूजी का ब्याह नहीं हुआ। जब होगा तब तुझे न्योता देकर बुला लेंगे। तब तक सतोष करके बैठी रह"। भाभी ने हँसकर कहा।

निर्मल की बात काटते हुये भिखारिन ने कहा - बहू जी तुम्हें देखकर मैं तो यही जानती हूँ कि ब्याह हो गया है। मुझे कुछ न देने के लिये बहाना कर रही हो। (पृ० १८६)

प्रसादजी की लगभग सभी कहानियां कथात्मक शैली में है एक दो ही उत्तम पुरुष में (ग्रामगीत) या पत्रात्मक शैली (देवदासी) में मिलेगी। सभी में देशकाल का पूरा पूरा ध्यान रखा गया है। केवल एक दो में जानबूझ कर कालावधि की अवहेलना है। सभी कहानियाँ स्पष्ट तथा स्वाभाविक है, कुछ में अमूर्तता अधिक है (पाप की पराजय, करुणा की विजय, प्रतिमा) और एक दो में कुछ अस्वाभाविकता जान पडेगी जैसे नीरा का विवाह (नीरा), बेला का गोली के साथ चला जाना (इन्द्रजाल) आदि। प्रसादजी के साहित्य का उद्देश्य हृदय मथन कर अमूल्य रत्न निकालना है, कहानियों में भी वह ज्यों का त्यों दिखलाई पड़ता है। प्रसादजी भाव जगत का सौन्दर्य दिखलाना चाहते थे, इस कार्य में उनको पूरी सफलता मिली है, उनकी सभी कहानियों को पढ़कर मन में एक गुदगुदी उठती है और हृदय का विस्तार रवत ही हो जाता है। प्रसादजी के ही शब्दों में उनकी कहानियों की आलोचना इस प्रकार की जा सकती है

"मैं सच कहता हूं, आज तक तुमने जितनी कहानियां सुनाई, सबमें बड़ी टीस थी । निष्फल प्रेम, करुण कथा और पीडा से भरी हुई कहानियां ही तुम्हें आती है" (मधुआ, आंधी)

स्त्रीत्व के दो चित्रकार—प्रसाद और गुप्त

I

सृष्टि की उषा में पुरुष था और नारी थी। उदयोन्मुख अरुण की प्रथम किरण धरा और पृथ्वी के अन्तराल में नाच रही थी उसके मुखमण्डल पर तेज तथा इसके कपोलों पर रक्तिमा का संगीत बिखेरती हुई। मलय पवन के चंचल झोंके से सचेत होकर दोनों ने आँखें खोलीं और अपने सामने कल्पना की साकार कला सी एक दिव्य मूर्ति देखी। बाह्य प्रकृति का अन्त: प्रकृति से समन्वय हुआ और 'निज' तथा 'पर' का स्थूल भेद विस्मृत हो गया। वसन्त की एक लहर उठी और कलेवर में सिहरन उत्पन्न करने लगी। वह उसकी आँखों में डूबकर अर्द्ध विस्मृत सा कुछ देख रहा था कोई परिचित सा रूप, कुछ स्वप्न का सा दृश्य, इसने अपनी कम्पित भुजाएँ सहज ही आगे बढ़ाईं और पुरुष को अपने बाहुपाश में जकड़ लिया।

फिर आलोक फैला, सृष्टि जग गई, सामाजिक जीवन का प्रारम्भ हुआ। रवि के ताप से सन्तप्त प्रकृतिप्राणा नारी के सामने विकृति आई और बोली—"तूने समर्पण नहीं किया, वरण किया है—तू, तू है और वह, वह है"। और फिर पूछने लगी—"उसमें तूने क्या देखा था—रूप, ऐश्वर्य, शक्ति? क्या वह तेरी भूल नहीं थी?" नारी व्याकुल हो उठी, वह सोचने लगी—"क्या सचमुच वह मेरी भूल थी? क्या मैं उससे अच्छे किसी अन्य पुरुष को वरण न कर सकती थी—जहाँ समर्पण भी न करना पड़ता?"

जीवन के संघर्ष में पुरुष भी तिलमिला उठा, जिसके लिये सब कुछ किया जाय[1] वही आज बदल गई—न वह उल्लास है न वह प्यार। मैंने क्या देखा था? उसका रूप? नहीं। उसके गुण? नहीं। नहीं-नहीं मैंने 'उसको' देखा था, उसकी किसी विशेषता को नहीं। तब भी क्या मैं छला गया?[2]

१—जिसका था उल्लास निरखना, वही अलग जा बैठी। (कामायनी, कर्म)

२—कितना दुःख जिसे मैं चाहूँ, वह कुछ और बना हो,
मेरा मानस चित्र खींचना, सुन्दर सा सपना हो। (वही, वही)

उस दिन से दोनों की प्रकृति मे विकृति आगई, जिससे बाह्य प्रकृति का समन्वय न हो सकता था। उस दिन से 'नारी' 'रानी' बन गई और 'पुरुष' 'पुरुष'—वह उसको केवल जीत सकता था अपनी कठोरता से, अपने ऐश्वर्य से, अपने बाहुबल से, और वह किसी की हो सकती थी अपने रूप से, अपने सौन्दर्य से। माधवी समीर का झोंका आता और नापतोल मे लग जाता, हृदय का द्वार बन्द था, विहंगमों का कलरव आज आह्वान न करता था, दिनमणि से आग बरस रही थी।

II

प्रकृतिप्राणा 'नारी' का जीवन जितना स्वाभाविक है उतना ही कोमल भी, वह ससार से अपरिचित हो सकती है इसलिये यह असम्भव नहीं कि 'रानीत्व' की चमक उसकी आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करदे और वह अन्त करण (अन्तःप्रकृति) और नापतोल मे उलझ कर कुछ का कुछ समझ ले। प्रकृति की प्यार भरी गोद मे पली हुई निसर्गकन्या शकुन्तला के जीवन मे भी यह उलझन आगई थी और उसका उसको फल भी भोगना पडा - किसी विवाहित पुरुष के ऐश्वर्य से आकृष्ट होकर वह और क्या पा सकती थी—उसको रानीत्व' तो अन्त में मिल गया परतु भूखे हृदय का आहार प्रिय का अनन्य प्रेम नहीं। उमा और सावित्री दोनों ही निसर्गकन्याएँ हैं, दोनों ने (विदित या अविदित) पूर्व सस्कारों के कारण अन्त करण की बात मानकर माता पिता की सहमति के बिना भी,[1] ऐसे व्यक्तियों को वरण किया जो उस समय परम दीन हीन थे, परतु दोनों का अनन्य प्रेम उनके प्रियतमों के जीवन मे इतना आलोक भर सका कि आज भी उन देवियों का नाम ससम्मान स्मरण किया जाता है।

'नारी' और 'रानी' का परस्पर मे नितान्त विरोध नहीं है—'रानी' भी तो 'नारी' ही है[2], भले ही उसका नारीत्व विकृत हो गया

(१) उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम ।१।२६।

(कुमार सम्भवम्)

(२) रानी, तुम भी स्त्री हो। तुम्हारे भी जीवन में वह आलोक का महोत्सव आया होगा, जिसमें हृदय हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्व दान करने का उत्साह रखता है।

(ध्रुव स्वामिनी, तृतीय अक)

हो। परन्तु अन्तर इस बात से आता है कि किसी को अपना जीवन सहचर बनाते समय उसका रूप नारी का रूप है या रानी का—वह अन्त करण की बात मानती है या भौतिक उपकरणों की चमक मे बहक जाती है। और जीवन यात्रा मे सघर्ष भी होते हैं, कष्ट भी आता है, मतभेद भी होता है, कभी कभी रूठना मनाना चलता रहता है, उस समय पछिताने से काम नहीं चलता, आत्मीयता और प्यार से उलझनें सुलझ जाती हैं। फिर यह क्या गारन्टी है कि जो धोखा अन्त करण की बात मानने पर हुआ है वह सौदा करने मे नहीं हो सकता? इतिहास मे दोनों ही प्रकार के प्रमाण तो मिलते हैं।

फिर भी कुछ लोग अन्त करण की बात नहीं मानते और पुरुष और नारी के मिलन का सौदा किया जाता है—कहीं स्वतन्त्र स्वयवर कहीं सप्रतिबन्ध स्वयवर कभी रूप की प्रतियोगिता कभी धन की, कहीं युद्ध, कहीं अखाडा। नारी बनगई नारी रत्न 'रानी', जिसको पाना सभव नहीं, जीतना विधेय है। और जब तक उस रत्न मे चमक रहेगी तब तक उसको शोभावर्द्धक समझकर गले का हार बनाया जायगा, फिर उसको सुरक्षित रख दिया जायगा किसी कोष मे—अन्त पुर मे। और जब नारी (रानी) जीती जा सकती है तो जीतने वाले से छीनी भी जा सकती है—बाहुबल से या ऐश्वर्य बल से—वह वीरभोग्या जो है। इस भाँति 'नारी' से 'रानी' बनने की इच्छा ने नारी को पण्य वस्तु (मार्केटेबल कोमोडिटी) बना दिया, इसमे उसको न हृदय का सुख मिला न मन की शान्ति; उसने मानो प्रतिशोध की भावना से पुरुषों को आपस मे लडा[1] दिया—'तुम दोनों द्वन्द्व युद्ध करो, जो जीता बचेगा उसकी हो जाऊँगी।'

सास्कृतिक इतिहास मे स्त्री के दोनों ही रूप मिलते हैं। जब हमारा जीवन अधिक स्वाभाविक था तब हम नारी और पुरुष थे। फिर पारस्परिक सम्ब ध को व्यवस्थित करने के लिए शास्त्र बने, स्मृतियाँ बनीं। स्त्री 'रानी' बन गई। कवियों ने दोनों रूपों के समन्वय का प्रयत्न किया और रानीत्व के अनन्तर फिर एक बार उसको नारी बना दिया—उसके सामने समर्पण[2] का आदर्श रखकर किसी ने अन्त करण

(1) क्योंकि अलका के दो प्रेमी नहीं जी सकते।

(चन्द्रगुप्त द्वितीय अङ्क)

(२) निश्चिन्त नारियाँ आत्मसमर्पण करके,
स्वीकृति में ही कृतकृत्य भाव हैं नर के। (साकेत, अष्टम सर्ग)

को प्रमाण[४] माना और मन को जन्मान्तर सगति[५] का पहिचानने वाला बतलाया। संस्कृत में कालिदास और हिन्दी के पुराने कवियों में तुलसीदास[६] का ऐसा ही प्रयत्न है। परन्तु क्या स्त्री और पुरुष अनन्य समर्पण के बिना सुखी बन सके ?

III

प्रसाद जी 'नारी' के चित्रकार हैं (जिसका सकलित रूप कामायनी मे है), और गुप्तजी 'रानी' के (जिसका विकसित रूप यशोधरा है)। प्रसाद के नाटकों मे नारी जीवन के जो अनेक चित्र हैं वे बाहरी सज्जा से इतने ढक गये हैं कि नारी का यथार्थ रूप सावधान पाठक की ही दृष्टि म समा सकता है, परतु कामायनी मे नारी अपने नैसर्गिक रूप मे दिखलाई पडती है। 'कामायनी' मे नारी के दो रूप हैं—श्रद्धा और इडा, दोनों युवतिया हैं, एक निसर्गकन्या है तो दूसरी सारस्वत प्रदेश की रानी, एक को नारी का प्रकृत रूप कह सकते हैं तो दूसरी को विकृत रूप, एक लेखक का आदर्श है और दूसरी शायद यथार्थ, निसर्गत नारी श्रद्धा रूपिणी है परतु वह अपने रूप को भूल सी गई है, जीवन तभी सुन्दर बन सकता है जब नारी अपने 'केवल श्रद्धा' रूपको ही धारण करे—

नारी। तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग-पग तल मे।
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल मे॥

प्रसाद की नारी रूप की सुन्दर तथा मन की भोली होती है, "प्रकृति ने उसे इतना सुदर और मनमोहक आवरण दिया है" (अजातशत्रु), 'इस रूप के भीतर अविश्वासी हृदय" (ध्रुवस्वामिनी) नहीं रह सकता[१]। यदि "पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा[२] है" (अजात०)

(४) सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तय ।
(अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथमोऽङ्क)

(५) मनो हि जन्मान्तर सगतिज्ञम्। ५।१५। (रघुवशम्)

(६) जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। ... तेहि सपनेहु पर नारि न हेरी॥ (रामचरितमानस, प्रथम सोपान)

(१) वह रूप था केवल,
या हृदय रहा भी उसमें। (आँसू)

(२) मूर्तिमती करुण, तुम्हारा जीवन सफल हो। स्त्री जाति का सुन्दर उदाहरण तुमने दिखाया। (विशाख)

दूसरे का कष्ट देखकर ही उसका मन काँपने लगता है[1] इसीलिये उसका स्वच्छ हृदय सदा दूसरे के लिये खुला रहता है:—

दया, माया, ममता लो आज, मधुरिमा लो, अगाध विश्वास।
हमारा हृदय रत्ननिधि स्वच्छ, तुम्हारे लिये खुला है पास ॥(कामा०)

"स्त्री वय के हिसाब के सदैव शिशु" (कंकाल) होती है इसलिये "असंख्य जीवों की भूल-भुलैया में अपने चिरपरिचित को खोज निकालना और किसी शीतल छाया[2] मे बैठकर (प्रेम का)' एक घूँट पीना और पिलाना" (एक घूँट) उसके लिए बड़ा स्वाभाविक है। प्रायः नारी प्रकृति से मन की उमंगें पाती है और पुरुष को अपने विभ्रम से सतृष्ण बनाकर निर्मम होने से बचा लेती है:—

मधुर माधव ऋतु की रजनी, रसीली सुन कोकिल की तान।
सुखी कर साजन को सजनी, छबीली छोड़ हठीली मान।
प्रकृति की मदमाती यह चाल, देख ले दृगभर पी के संग।
डाल दे गलबाँही का जाल, हृदय में भर ले प्रेम उमंग॥
(जनमेजय का नागयज्ञ)

श्रद्धा कलाप्रिय गन्धर्व देश की कन्या है, उसके मन में उत्साह तथा कुतूहल है, कष्ट को देखकर उसका मन अधीर हो जाता है। शैल-मालाओं का शृंगार देखने के लिए उसका मन बढ़ा और पैर भी चले, तो एक दिन वह अकेली ही रह गई। मनु के उद्वेग को देखकर वह पिघली और जीवन की लालसा भरने के लिए उसने मनु को अपना विगत-विकार जीवन समर्पित कर दिया। इस समर्पण में केवल[3] उत्सर्ग है, उसके बदले में कुछ लेने की कभी इच्छा नहीं हुई। फिर भी एक दिन उसका प्रिय उससे छोड़कर चला गया, और वह उस निर्मोही को पुकारती ही रह गई। निष्ठुर[4] प्रिय जीत गया, परन्तु श्रद्धा तो हारी नहीं—उसने विनिमय नहीं, समर्पण किया था।

---

(१) आह! तुम कितने अधिक हताश, बताओ यह कैसा उद्वेग।
(कामायनी)

(२) घने प्रेम तरु तले।
बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले। (स्कन्दगुप्त)

(३) इस अर्पण में कुछ और नहीं केवल उत्सर्ग छलकता है।
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ, इतना ही सरल झलकता है।

(४) प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं।

श्रद्धा शरीर से प्रिय के पीछे नहीं गई परन्तु उसके मानस पर उस 'अभिन्न प्रेमास्पद' का चित्र अंकित है, मनु पर जब आकस्मिक आपत्ति आई तो श्रद्धा को स्वप्न में उसका आभास मिल गया—वह स्वप्न में ही काँप उठी और उस बावले प्रवासी के पास, अपनी असफलता पर पछिताती हुई, जा पहुची—'अपना सकी न उसको मैं'। श्रद्धा मनु के अतृप्त जीवन में सन्तोष बनकर उसे मधु से भर रही थी परन्तु वह क्षुद्र पात्र उसे धारण न कर सका। एक बार फिर वह 'जनपद कल्याणी' मनु को खोजने चलदी—उसे विश्वास था कि मैं उसको प्यार करती हूँ तो वह भोला[1] मुझसे फिर छल नहीं कर सकता। अन्त में सबको आनन्द का पथ दिखलाकर श्रद्धा जगत् की 'मंगल कामना अकेली' सिद्ध हुई।

IV

यशोधरा राजकुमारी थी परम सुन्दरी, अनेक राजकुमारियों में से उसको इसलिए चुना गया था कि वह गौतम को अपने प्रेम में जकड़ कर संसार में रख सकेगी। गोपा के पिता ने भी शक्ति बल की परीक्षा ली और तब कन्यादान किया। सखियाँ गोपा के भाग्य को सराहने लगीं—बड़े भाग्य से उसको ऐसा रूपवान, बलशाली तथा ऐश्वर्यवान् पति मिला था[2]। यशोधरा ने नियमों को निबाहा, दूसरों की आँखों से देखा और प्रिय की अनन्या बन गई—उसका कर्त्तव्य तो था ही माता पिता का विधान जो था, अब वह गर्व भी कर सकती है उसका पति सौ में से एक है। परन्तु एक दिन उसका पति 'चोरी चोरी' उसे छोड़ कर चला गया। यदि वह रोये भी तो लाभ क्या है[3], उसको जीवित रहना है राहुल को दूध पिलाकर परिपुष्ट करने के लिए—भले ही गौतम रुष्ट हों वे तो केवल पानी के ही पात्र हैं[4]। और फिर वह व्यर्थ परेशान क्यों हो उसका पति कहीं भाग तो नहीं गया, कमाई ही करने गया है

---

(१) वह भोला इतना, नहीं छली। मिल जायेगा, हूँ प्रेम पली॥

(२) सबने मेरा भाग्य सराहा सबने रूप बखाना।

(३) अब क्या रक्खा है रोने में ?

(४) पानी के ही पात्र तुम, प्रभो रुष्ट या तुष्ट हो।

जब ठीक समझेगा तब लौटकर घर ही आवेगा, और जो कुछ कमाकर लावेगा[1] उसमें यशोधरा का भी हिस्सा होगा ही[2]; तब व्यर्थ ही चरों को भेजकर खोज कराने से क्या बनता है।

घर से निकल कर गौतम पर क्या बीती, यह बचारी गोपा नहीं जानती—कभी-कभी इधर-उधर से कुछ उड़ती हुई बातें सुन पड़ती हैं। गोपा का मुख्य काम था पुत्र को योग्य बनाना—पति न सही पुत्र के सहारे ही उसका जीवन पार लग जाय। ऋतुएँ बदलती हैं और उसके मन को उत्तेजित करती हैं तो उसे प्रिय की पुरानी याद आ जाती है— वह अपने मन में तो प्रिय की छाया नहीं देख सकी परन्तु प्रकृति में उसका रूप निहारती है। यशोधरा की जीत हो गई उसका प्रिय एक दिन लौट कर आगया, परन्तु वह उस प्रिय के पास दौड़ी हुई क्यों जाय, वही क्यों न आ जाय—गलती उसकी अधिक है या गोपा की; अगर उसको हमारी जरूरत नहीं है तो हम भी उसके बिना मरे नहीं जाते—सामाजिक नियमों का पालन तो खैर करना ही पड़ेगा एक बार विवाह जो हो चुका है[3]। अन्त में बेचारा गौतम ही आया उस मानिनी के पास और भिक्षा में राहुल को लेकर चलता बना। गोपा को तथागत से यह सार्टीफिकेट मिला कि नारी पुरुष से किसी बात में कम[4] नहीं है और सास-ससुर ने सब के सामने यह घोषणा की कि गोपा का मूक तप गौतम के मुखर तप से बढ़ कर है—इस भाँति अपनी कीर्त्ति के दो-दो शिला लेख खुदवा कर यशोधरा अमर बन गई।

गुप्तजी की नारी में मध्यकालीन आदर्श आवश्यकता से अधिक है; यथार्थ में वह[5] दासी है उसका लक्ष्य है 'देवी'[6] बनना; उसके

---

(१) कुछ अपूर्व अनुपम लावेंगे।
(२) देखूं एकाकी क्या लोगे?
गोपा भी होगी, तुम होगे।
(३) मैं अधीन, मुझको सब सहना।
(४) हीन नहीं नारी कभी।
(५) अब गृह-भार नहीं सह सकती,
देव, तुम्हारी दासी। (यशो०)
(६) देव होकर तुम सदा मेरे रहो,
और देवी ही मुझे रक्खो, अहो! (साकेत)

सामने कर्त्तव्य का हृदय से ऊँचा स्थान है। कविजी गृहस्थ को पृथ्वीतल का सबसे ऊँचा स्तूप समझते हैं और नारी पर गृहस्थ की सारी मान मर्यादा का भार लाद दिया है इसलिये नारी सब कुछ सहकर भी मन मारती रहती है आँसू पी-पीकर[1] धन्य है वह कुल बाला जो अपने अश्रु-सलिल[2] से कुल के समस्त कलंक को धो डालती है और जिसके मन में केवल यही बात आती है कि चलो कोई बात नहीं वह अपने भी तो हैं[3]। कवि ने बहुत कुछ हिसाब लगाकर यह निश्चय किया है कि यदि लाभ[4] अधिक हो और हानि कम हो तो उसका भी स्वागत करना चाहिये, इसलिये उसकी नारी नाप तोल में लगकर अपने आसन पर ही बैठी रहती है। यदि सीता सावित्री, पार्वती आदि भी ऐसाही सोच लेतीं तो हमारा सांस्कृतिक इतिहास आज कुछ और ही होता परन्तु लोकसंग्रह में अत्यधिक विश्वास रखनेवाले तुलसीदास की सीता ने भी बिना सोचेसमझे ही कह दिया कि संसार के और जितने सम्बन्ध तथा कर्तव्य हैं वे सबके सब पति के बिना पत्नी को मार्त्तण्ड से भी प्रचण्ड लगते हैं।[5]

V

प्रसाद की नारी पुरुष का "शीतल उपचार" तथा उसकी मधुर प्रेरणा है वह जीवन में कितना मधु भर देती है, परन्तु इसके विपरीत गुप्त की नारी स्वयं एक आश्रय[6] खोजती फिरती है जिसमें वह

---

(१) मय खाऊँ, आँसू पियूँ, मन मारूँ मनमार। (साकेत)

(२) वह उस कुलबाला ने अश्रु-सलिल से समस्त धो डाला। (वही)

(३) वे सर्वस्व हमारे भी हैं यही ध्यान में आती हैं। (पञ्चवटी)

(४) हो लाभ, पर हानि थोड़ी।
हुआ करे तो वह भी निगोड़ी। (साकेत)

(५) जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते ताते ॥
जिय बिनु देह नदी बिनु वारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी।
(अयोध्या काण्ड)

(६) खोजती हैं किन्तु आश्रय मात्र हम।
चाहती हैं एक तुम सा पात्र हम।
आन्तरिक सुख-दुःख हम जिसमें धरें।
और निज भव भार यों हलका करें। (साकेत)

अपना सुख-दुःख रखकर अपना जीवन हलका कर सके। समर्पण दोनों करती हैं परन्तु एक का समर्पण अशेष है, दूसरी का आंशिक—वह समर्पण में भी कर्तव्य को सुरक्षित रखलेती है। एक निसर्ग वाला है, दूसरी गृहस्थ की कठपुतली, एक का हँसना और रोना हृदय की गति से चलता है, दूसरी सोचती है कि अगर हँसू तो किसके लिये[1] और रोऊँ तो किसके लिये—और ऐसा करने से कितना लाभ होगा और कितनी हानि। "यदि प्रेम ही जीवन का सत्य है" तो प्रसाद की नारी विधाता की अनुपम कृति है, परंतु यदि पद-पद पर नापतोल करते हुये ही संसार में निर्वाह हो सकता है तो गुप्तजी ने नारी के नाम से पाठक को एक उपयुक्त निर्देशक दे दिया है जिसके आँसू भी सार्थक (किसी अर्थ या मतलब से निकले हुए) होते हैं।

श्रद्धा और गोपा के प्रारम्भ ही भिन्न हैं इसलिये अन्त तक उनके मार्ग अलग-अलग हैं; अन्तरिम जीवन की स्थूल परिस्थितियाँ एकसी हैं परन्तु उनकी प्रतिक्रिया भिन्न भिन्न हैं। दोनों के पुत्र हैं, दोनों पतित्यक्ता हैं, अन्त में दोनों पुत्रों का भी दान कर देती हैं, फिर भी अन्तर है—गोपा ने पुत्र दे दिया अपने पति को, जिसका उसपर गोपा से अधिक अधिकार है, वह भी आँसू छिपाते हुये; परन्तु श्रद्धा का पति उसको जिस कारण से छोड़ गया था वह पुत्र भी श्रद्धा उस स्त्री को सहर्ष दे देती है जिस स्त्री ने उसके पति को उससे छीन लिया और छीनकर भी सुखी न रख सकी[2]। इस प्रकार प्रसाद की नारी हृदय की उदारता के कारण गुप्त की नारी की अपेक्षा अधिक लोक-मंगल कर सकी है यद्यपि उसके जीवन में नापतोल नहीं है। स्त्री और पुरुष को विधाता ने अलग-अलग बनाया है, पुरुष में कर्त्तव्य की कठोरता है और स्त्री में हृदय की कोमलता—इस प्रकृत रूप में विकार लाने का प्रयत्न उसको भयावह बना देता है सुधार नहीं कर सकता।

---

(१) गाती हैं मेरे लिए, रोती उनके अर्थ। (यशो०)

(२) तुमने अपना सब कुछ खोकर
वंचिते ! जिसे पाया रोकर;
मैं भगा प्राण जिनसे लेकर,
उसको भी, उन सब को देकर। (कामायनी, दर्शन)

प्रेमचन्द, ताराशंकर तथा आनन्द

१

मुन्शी धनपतराय उर्फ प्रेमचन्द के हिन्दी कथा-साहित्य में पदार्पण करते ही भारतीय उपन्यास का एक नया युग प्रारम्भ होता है जिसकी सर्वमुख्य विशेषता जीवन के प्रति ईमानदारी है। प्रेमचन्द से पूर्व उपन्यास में समाज बाह्य कल्पना का अतिरंजित आलोक पाठक की निर्बल दृष्टि को चमत्कृत करने मात्र के लिये व्यवहृत होता था परन्तु प्रेमचन्द की कला जीवन के प्रति अनुराग को परिपुष्ट करती हुई पाठक को वास्तविक जीवन के समक्ष क्रियाशील बनाने में सक्षम है। 'प्रतिज्ञा' से 'गोदान' और 'मंगलसूत्र' तक की यात्रा में पाठक को भारतीय समाज का भारतीय चित्र सानुराग दृष्टि से अंकित मिलता है। लेखन काल के प्रारम्भ से मृत्यु पर्यन्त देश में जो सामाजिक और राजनीतिक जागृति की लहरें आती रहीं उन सबका प्रतिबिम्ब प्रेमचंद के उपन्यासों में दृष्टिगत होता है; परन्तु इन वीचियों के अन्तराल से प्रेमचंद का स्वकीय व्यक्तित्व सर्वत्र ही झलक जाता है। 'प्रतिज्ञा' वर्ग के चार उपन्यास महान् हिंदू नारी की दयनीय दशा के विभिन्न चित्र ही हैं; 'प्रतिज्ञा' में विधवा-विवाह, 'वरदान' में असफल स्नेह, 'सेवासदन' में नारी के ऊपर समाज के क्रूर अत्याचार, तथा 'निर्मला' में अनमेल विवाह का चित्रण ही लेखक का अभीष्ट था। 'वरदान' की माधवी अपने निःस्वार्थ तप से इतनी महान, सिद्ध होती है कि उसको मानवी न कह कर देवी कहने की लालसा होने लगती है।

प्रेमचन्द का कैनवास 'सेवासदन' में ही विस्तृत हो चुका था और वे सामाजिक परिवर्तनों के मूल में आर्थिक परिस्थितियों और राजनीतिक व्यवस्थाओं को महत्त्व देने लगे थे। उन के सम्मुख दो वर्ग थे—एक, ग्रामीण किसान-मजदूरों का दलित वर्ग जिस में शिक्षा और टीपटाप का अभाव है परन्तु जिस के पास मूल तत्त्वों का अक्षय्य भण्डार है; दूसरा, शहरी अंग्रेजी पढ़ा-लिखों तथाकथित सभ्य वर्ग जो प्रत्येक दृष्टि से खोखला है। उन का एक उपन्यास एक वर्ग को आश्रय देता है तो तत्काल ही दूसरा उपन्यास अवशिष्ट वर्ग के चित्रण द्वारा सम्पूर्ति के लिए अग्रसर हो जाता है।

'प्रेमाश्रम' में 'सेवासदन' के 'चेत' को जम कर खड़े होने का अवसर मिला। किसान और जमींदार इस उपन्यास के नायक हैं, जमीन की समस्या ही कथावस्तु का केन्द्र है, और उस समस्या का समाधान किसानों को बिना किसी लेन देन या झगड़े टंट के अपनी जोत का मालिक बना देना है। 'गबन' 'प्रेमाश्रम' का पूरक है, इसमें दूसरे वर्ग को स्थान मिला है, पश्चिमी सभ्यता के चकाचौंध से आकृष्ट होने वाले आडम्बर प्रिय शहरी नवयुवक दिखावे में फँस कर अपने जीवन को ही स्वाहा कर बैठते हैं और इसी दिखावे में अन्य रूप आभूषण प्रेम में उलझी हुई नारी पुरुष के इस पतन में सहायक होती है। अस्तु, ग्राम एवं नगर दोनों ही दुर्दमनीय ज्वाला से प्रपीड़ित हैं। 'कायाकल्प' में ग्राम और नगर दोनों के एकत्र चित्र हैं, रानी देवप्रिया वासना की ओस से जिस चिरसंचित प्यास की तृप्ति चाहती थी वह प्रेमामृत से ही शान्त होने वाली वस्तु है, मनोरमा का प्रेम उस को एक अप्रिय व्यक्ति से विवाह के लिए बाध्य करता है, परन्तु देवप्रिया की वासना उसको बार बार ठोकरें खिलाती है। सामान्यत 'कायाकल्प' में रोमांटिक वातावरण का आरोप किया जाता है परन्तु उपर्युक्त विश्लेषण इस तथ्य को प्रकट करेगा कि प्रेमचन्द्र का प्रयत्न स्थूल की निस्सारता दिखा कर सूक्ष्म की स्थापना है—जो भारतीय संस्कृति का एक मूलाधार कहा जा सकता है।

'रंगभूमि' से प्रेमचन्द का फिर निश्चित विस्तार होता है। राष्ट्रीय आन्दोलन का व्यापक रूप, किसान मजदूर, पूँजीपति और हाकिम सब को अपने में लपेट लेता है, परन्तु जिस युद्ध में समाज के सिरमौर नेता और पूँजीपति हार जाते हैं उस में अन्धा सूरदास अपने आत्मबल के सहारे निर्भय हो कर संघर्ष करता रहता है - गान्धी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने इस बात का प्रयत्न किया कि जन जन में मनोबल जागृत किया जाय क्योंकि बाह्य संघर्ष के लिए भी आन्तरिक अभ्युत्थान अनिवार्य है। कर्मभूमि में इसी चित्र का कुछ गहरा रंग है, मजदूर और किसान ही नहीं शहरी लोग, अछूत और मुसलमान भी सहानुभूतिपूर्ण यथार्थता से चित्रित किए गये हैं, क्योंकि देश की दृष्टि से सब एक से हैं और आन्दोलनों का मूल्य भी सब के लिए समान है, भले ही उन की पारस्परिक वृत्तियों में कुछ भिन्नता हो। 'गोदान' में प्रेमचन्द भारत का वास्तविक चित्र अंकित करते हैं, इस के मुख्य पात्र

प्रमुख्त' ग्रामीण हैं यद्यपि शहरी पात्रों को भी उचित अनुपात में स्थान मिला है। किसान के जीवन में खोखली मर्यादा, निरर्थक अन्ध-विश्वास, नौकरशाही शासन जमींदार और महाजन जोंकों के समान रक्त चूसते रहते हैं। फलतः जीवन पर्यन्त सचाई से काम करते रहने पर भी होरी की एकमात्र जीवनाभिलाषा गो क्रय पूरी न हो पाई और आत्मबल से विजयी हो कर भी वह भौतिक दृष्टि से जीवन संग्राम में पराजित ही रहा। प्रेमचन्द ने इस पराजय में भी आत्म बल फूँक कर अपने उपचार में दृढ़ विश्वास दिखाया है कि जीवन कार्यक्षेत्र है जो कर्मशील होगा वह कभी न कभी अवश्यमेव विजय प्राप्त करेगा—मजदूर स्त्री ने दातादीन को डाँट कर कहा "भीख मांगो तुम तो भिखमंगे की जात हो, हम तो मजदूर ठहरे जहाँ काम करेंगे वहीं चार पैसे पाएंगे"; गोबर ने भी "सुना है और समझा है कि अपना भाग्य खुद बनाना होगा, अपनी बुद्धि और साहस से इन ताकतों पर विजय पाना होगा"। अस्तु इस चित्रण में प्रेमचन्द के निष्कर्ष हैं कि जब तक किसान में स्वबल (मनोबल एवं आर्थिक बल) का संचय न होगा तब तक कोई भी बाहरी शक्ति (ईश्वर या नेता) उस की सहायता नहीं कर सकती—मनोबल से ही दूसरे सम्बलों का अर्जन सम्भव है। 'मंगल सूत्र' में मध्यवित्त समाज के आजीवन संघर्ष से प्रेमचन्द इस निर्णय पर पहुँच रहे थे कि निरन्तर संघर्ष के लिए जो मनोबल किसानों के उद्धार का एकमात्र उपाय है वही मध्यवित्त वर्ग का भी श्रेय है और यह वर्ग ठोकरें खा-खा कर इसी संचयन में प्रयत्नशील हो रहा है। इस प्रकार प्रेमचन्द का विश्लेषण और उपचार दोनों शुद्ध भारतीय हैं—भारतीय संस्कृति पर ही आश्रित।

२

बंगला भाषा के उपन्यासकार शरत्, रवीन्द्र और ताराशंकर से प्रेमचन्द की तुलना की जा सकती है। शरत् और रवीन्द्र प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक समाजोन्मुख हैं परन्तु उनके उपचार प्रेमचन्द से कम स्थूल हैं। शरत् में भारतीय नारी का वही रूप है जो प्रेमचन्द में है; अन्तर प्रादेशिक या परिस्थिति-जन्य है प्रेमचंद की नारी में वह गहराई नहीं है जो शरत् की नारी में, वह न उतनी सूक्ष्म है और न उतने प्रखर व्यक्तित्व शाली। प्रेमचन्द ने नारी के रूप की केवल वे रेखाएँ ही देखीं जो सर्वसुलभ हैं परन्तु शरत् की नारी जीवन की विषमता में प्रवेश कर गई और उस संघर्ष में उस का रूप निखर उठा—परिस्थितियों में

पिसकर वह और भी चमचमाने लगी। रवीन्द्र की नारी उस वर्ग की नहीं है जिस की प्रेमचन्द की। प्रेमचन्द ने तथाकथित सभ्य नारी को कम ही लिया है और जहाँ लिया है वहाँ वे उस के प्रति न्याय नहीं कर सके हैं, 'गोदान' की मालती 'कायाकल्प' की देवप्रिया और 'प्रेमाश्रम' की गायित्री इस कथन को सत्य सिद्ध करती हैं। रवीन्द्र की नारी कवित्वमयी और कल्पनाशीला है; कठोर संघर्षों में पड़ कर उस की प्रकृति विकृत नहीं हो पाई है। रवीन्द्र में सूक्ष्मता है और शरत् में सामाजिकता परन्तु प्रेमचन्द ने इस समाज की व्यवस्था को आर्थिक और राजनीतिक सींकचों में जकड़ा हुआ पाया इसलिए उनका प्रयास इनको छिन्न-भिन्न कर के समाज के बद्ध प्राणियों को स्वतन्त्र कराना है।

ताराशंकर के 'मन्वन्तर' और 'गणदेवता' की तुलना प्रेमचन्द के पिछले उपन्यासों से की जा सकती है; जिस प्रकार प्रेमचंद का क्रमिक अध्ययन न करने वाला पाठक जल्दी में यह समझ बैठता है कि उनकी विचारधारा पर कम्यूनिज्म का प्रभाव है, उसी प्रकार ताराशंकर के 'मन्वन्तर' से पाठकों ने उस लेखक के विषय में ऐसी धारणा बनाई थी। 'गोदान' के प्रकाशन से प्रेमचन्द का ठीक-ठीक रूप स्पष्ट हो गया और उनकी इस कृति से उन के शुद्ध भारतीय होने का प्रमाण मिल गया; ताराबाबू का 'गणदेवता' भी उनके विषय में पाठकों की इस निराधार धारणा में सुधार करता है। 'गोदान' और 'गणदेवता' में अनेक प्रकार का साम्य है। दोनों का वातावरण ग्रामीण है; पात्र, किसान मजदूर, जमींदार-साहूकार, पटवारी-कानूनगो आदि हैं; दोनों का उद्देश्य भारतीयता से आप्लावित ग्रामीण जीवन की महत्ता और कुशिक्षा से विकृत शहरी जीवन की तुच्छता चित्रित करना है—ताराबाबू के शब्दों में "यहाँ का मनुष्य अशिक्षित है परन्तु शिक्षा के प्रभाव से शून्य अमानव नहीं है, अशिक्षा के दैन्य से ये संकुचित हैं परन्तु कुशिक्षा या अशिक्षा के दंभ से दांभिक नहीं हैं। शिक्षा यहाँ के मनुष्यों को नहीं मिली परन्तु इन के पास एक प्राचीन और जीर्ण संस्कृति आज भी है—भले ही वह मुमूर्ष की भाँति किसी तरह साँस ही ले रही है"। दोनों लेखकों ने ग्रामीण समस्याओं का विश्लेषण एक ही रूप में किया है, वे मनुष्य के आन्तरिक अभ्युत्थान में विश्वास करते हुए भी यह निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं कि "लक्ष्मी का ही नाम श्री है, लक्ष्मी जिस के घर में है श्री भी उसी के पास है; जिस के मन में बल है, शरीर में बल है,

प्रकृति में यत्न है वही श्रीमान् है" (गणदेवता), जब तक भारत के किसान और मजदूरों में मनोबल, शरीरबल और इन दोनों का परिणाम अर्थबल एवं शासनबल एकत्र न होगा तब तक उनका कल्याण नहीं हो सकता। 'गणदेवता' के कतिपय पात्र 'गोदान' के कुछ पात्रों से मिलते-जुलते हैं, 'गणदेवता' के पातू, छिरु, और दुर्गा 'गोदान' के होरी, मातादीन और मालती से अधिक दूर नहीं हैं, पुलिस के अधिकारी, समाज के ठेकेदार, और ग्राम के जाक दोनों उपन्यासों में समान चरित्र वाले हैं।

'गोदान' और *'गणदेवता'* में मुख्य भेद *ग्रामीण जीवन को दो* अलग अलग रूपों में देखने से आया है, प्रेमचन्द भारतीय किसान की मूक वेदना से द्रवित हो कर इसकी युगातकारिणी कथा लिख रहे हैं परन्तु ताराबाबू का उद्देश्य भारतीय किसान न होकर भारतीय ग्राम है—शासक बदले, क्रांतियाँ हुईं, हिन्दू, पठान, मुगल, मराठा, सिक्ख और अंग्रेज क्रमश अपनी अपनी बारी से सत्ता को हथियाते रहे परन्तु ग्रामीण जनता का जीवन ज्यों का त्यों रहा, वह पिसती और दबती शताब्दियों से अपने पदार्थ जीवन को सुरक्षित रखने का कुफल प्रयास करती रही है। प्रेमचन्द ने सबसे पहले कदाचित् गांधी जी के प्रभाव से मूक ग्रामीणों की इस करुण पुकार को सुना था और वे ग्रामीण जनता का प्रतिनिधि किसान मात्र को समझते थे, ताराशंकर में ग्राम है परन्तु उसका प्रतिनिधित्व किसान नहीं करता प्रत्युत दलित वर्ग के निराश्रय, निःस्व, तिरस्कृत एवम् प्रवंचित मजदूर करते हैं, अत 'गणदेवता' में जमीन की समस्या नहीं है बल्कि हरिजनों पर अत्याचारों का सदृय वर्णन है — प्रेमचन्द और ताराशंकर का यह अन्तर विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

'गणदेवता' की समस्या बहुत ही साधारण है परन्तु इसका महत्व अक्षुण्ण है, मशीन के आगमन से शहरी जीवन की चमक दमक ग्रामीणों को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेनी है और प्रत्येक व्यक्ति जीवन के हर एक कदम को अर्थ के तराजू से तोलने लगता है—"आदमी को जहाँ दो पैसे मिलेंगे वहीं जायगा" गाँव वाले भी शहर से चीजें लाने लगते हैं क्योंकि वहाँ सस्ती मिलती है, बड़े *परिमाण पर वस्तु तैयार करने से छोटे छोटे कर्मकरों की जीविका* छिन जाती है और कृत्रिम मध्य वित्त समाज की सृष्टि होने लगती है जिसको "आजकल वार्निश किया जूता चाहिये, लम्बा कुर्ता चाहिये

सिगरेट चाहिये, घर के लिये शमीज" इत्यादि चाहिये। मशीन की इस सृष्टि को अभी भारतीय समझ नहीं पा रहे हैं परंतु भविष्य में इसका परिणाम भयंकर होने के लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं। एक ओर "कर्ज के कारण भूमि बिक रही है", दूसरी ओर 'जो कस्बे जाता है वह दो एक पैसे की सिगरेट खरीदे बिना नहीं रहता", "सामाजिक आचार-व्यवहार लुप्त हो रहे हैं ···लोहार बढ़ई और मोची ने अभी-अभी काम छोड़ दिया है, दाई और नाई सनातन विधान भंग करने के लिये उद्यत हैं"। प्रेमचंद ने वर्तमान स्थिति का चित्रण किया है, ताराशंकर ने दृश्यमान संधि-युग का प्रेमचंद समस्याओं का तत्काल हल चाहते हैं, ताराशंकर समाज को चेतावनी दे रहे हैं, उसको बतला रहे हैं कि वह अन्धे गर्त्त में गिरने का उपक्रम कर रहा है। फलतः प्रेमचंद का नायक होरी किसान है तो ताराशंकर का नायक पातू हरिजन, प्रेमचंद में ग्राम के अधिकारी जमींदार हैं, परन्तु ताराशंकर का दुष्ट पात्र छिरूपाल एक किसान ही है जो मुँह का पोपला, गर्जन में पशु सदृश चोर एवं व्यभिचारी है—'वह छिरूपाल चोरी करता है, व्यभिचार करता है और घर में बैठ कर जप-तप करता है, समारोह के साथ काली पूजा करता है, ऐसे धर्म के मत्थे पर मैं पांच झाड़ू मारूँ"। होरी के समान छिरूपाल भी पातू हरिजन के साथ ही साथ भारतीय साहित्य की अमर सृष्टि है।

ताराशंकर ने भी अपने पात्रों की सभी दुर्बलताओं को दिखाया है, उनकी दुर्गा "स्वैरिणी है, तुषानल है, मरीचिका है, वह पाषाणी है, विश्वासघातिनी है, मायाविनी है। ·····" फिर भी उसके अन्तर्मन में एक उच्च आत्मा का निवास है। अनिरुद्ध के लिये वह सदा अभिशाप ही नहीं रही—"मुसीबत के उन दिनों में दुर्गा मोहिनी रूप में आई थी और उसने बेहद प्यार भी किया था; सेवा ही नहीं अपनी पार्थिव सम्पदा भी अनिरुद्ध को देने के लिये तत्पर होगई थी"। गोदान की मालती के समान इस कलंकिनी में भी भारतीय नारी का सचा रूप छिपा हुआ है। सामान्य समाज के लिये वह पतिता है परंतु व्यक्ति विशेष की महत्ता उसके व्यक्तित्व को भी चमका सकती है। ताराबाबू ने दुर्गा के इस पतन का उत्तरदायित्व आंशिक रूप से सफेदपोश समाज पर और आंशिक रूप में हरिजनों के संस्कारों पर डाला है—यदि वैसा आता हो और किसी ऊँची जाति के आदमी से

सम्बन्ध हो तो दलित वर्ग के लोग स्त्री के आचार को अनदेखा कर देते हैं। पातू महापतित है, वह पत्नी को पीटता है फिर भी वह महान् है, उसमें मानवता छिपी हुई है। प्रेमचन्द ने भी दलित व्यक्तियों में मनुष्यता का गूढ कोष दिखाकर मानव चरित्र की उज्ज्वलता घोषित की है, ताराशंकर भी इसी में विश्वास करते हैं, साथ ही दोनों लेखकों को मानव की कमजोरियों का भी पूरा अनुभव था। परन्तु वे दुर्बलताओं से डर कर उज्ज्वलता के प्रति निराश नहीं थे—"तुम दुःखी न हो पंडित, मनुष्य भूलता तो पग पग पर है, तुम इसलिए दुःखी हो रहे हो कि इसमें मनुष्यत्व नहीं है, परन्तु मनुष्य होना क्या आसान बात है ?" (गणदेवता)

प्रेमचन्द और ताराशंकर दोनों ही भारत की पीड़ित जनता के प्रबुद्ध कलाकार हैं। दोनों शहरी जीवन के प्रति सन्दिग्ध और ग्रामीण जीवन के प्रति श्रद्धालु हैं। दोनों धर्म, अर्थ और शासन के अधिकारियों के खोखलेपन से अवगत हैं, दोनों ने दुर्बलताओं में उज्ज्वलता के दर्शन किये हैं, दोनों अपने पात्रों के प्रति पाठकों के हृदय में श्रद्धा की जागृति कर देते हैं। प्रेमचन्द का आधार फलक इतना विस्तृत है कि उस पर भारत की ८०% जनता का प्रतिनिधित्व सहज में ही हो जाता है, इसके विपरीत तारा बाबू ने जिस जनता को महत्त्व दिया है वह भारत की जनसंख्या की दृष्टि से तो पचास प्रतिशत से अधिक है परन्तु ग्रामीण समस्याओं में उसका उतना महत्त्व नहीं है। प्रेमचन्द ने खेती की प्रत्यक्ष समस्या को लिया है तो ताराबाबू मशीन के आ जाने पर अनिवार्य रूप से होनेवाली भयावह परिस्थिति को अपना विषय बनाते हैं। दोनों में ईमानदारी और सच्चाई है। प्रेमचन्द और ताराशंकर परस्पर में पूरक हैं।

(३)

अंग्रेजी के भारतीय उपन्यास-लेखक डा० मुल्कराज आनन्द और प्रेमचन्द में विषय साम्य के साथ साथ दृष्टिकोण का भी साम्य है। आनन्द के प्रथम दो उपन्यास 'अछूत' और 'कुली' हैं और आगे चलकर 'टू लीव्ज एण्ड ए बड', 'दि विलेज' तथा 'दी सोर्ड एण्ड दी सिकिल' आदि में लेखक का क्षेत्र और भी विस्तृत होता गया है। दोनों लेखकों का ध्यान भारतीय समाज की लघुता की ओर है और इस वृद्ध समाज के विकारों को पाठक के सामने रख कर दोनों ने इनके उपचारों

की माँग की है परन्तु दोनों लेखकों में दृष्टिकोण का भेद है। आनन्द के मन में पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से भारतीय समाज के विकारों के प्रति रोष उत्पन्न हुआ था और पश्चिम की शैली में ही उनका मन इस विकाराग्नि में झुलस कर प्रतिक्रिया स्वरूप उतनी ही तीव्र एवं असन्तुलित ज्वाला उगलने लगा। 'अछूत' के नायक बक्खा के समान आनन्द को मनुष्य मात्र की समता का प्रथम अनुभव अंग्रेजों के सम्पर्क से हुआ था और फिर अनेक बार मानवता का अपमान देखकर उनके हृदय में विद्रोह की दुर्दमनीय भावना घर कर बैठी आगे चलकर गांधी जी के अछूतोद्धार आन्दोलन में इस विकार का भारतीय उपचार भी प्राप्त हो गया। इस प्रकार प्रेमचन्द और आनन्द के प्रारम्भ ही भिन्न हैं और उनकी प्रेरणाओं के मार्ग भी पृथक हैं; प्रेमचन्द का परिचय सम्पर्क-जन्य है परन्तु आनन्द का ज्ञान निरीक्षणोद्भव है; इसीलिए प्रेमचन्द इन पात्रों के अन्तर्तम में प्रवेश कर जाते हैं परन्तु आनन्द उनकी सामान्य विशेषताओं को ही चित्रित कर सके हैं।

प्रेमचन्द का क्षेत्र ग्राम है और उनके मुख्य पात्र किसान एवं ग्रामीण मजदूर; आनन्द का क्षेत्र मुख्यतः अग्राम (नगर, चाय क्षेत्र, मिल आदि) है और इनके प्रधान पात्र समाज के तिरस्कृत प्राणी कुली, मजदूर, घरेलू नौकर, जमादार इत्यादि हैं। प्रेमचन्द ने भारत का सर्वांश चित्रित किया है परन्तु आनन्द दस प्रतिशत जनता में ही सीमित रहे हैं। प्रेमचन्द में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं, भिन्न भिन्न भेद और विभिन्न परिस्थितियों का चयन है परन्तु आनन्द की दृष्टि संकुचित है, वे नगर में रहकर जीविका कमाने वाले उन हताश ग्रामीणों (विशेषतः पहाड़ियों) तक ही अपने हृदय का विस्तार कर पाये हैं। प्रेमचन्द की नारी अपने गुणों में अद्वितीय है—बाहरी विकारों से उत्पन्न होने पर भी उसमें स्वाभाविक शीतलता है; परन्तु आनन्द भारतीय नारी के इस रूप से अनभिज्ञ रहे, उनकी मालकिनें मालिकों से भी ज्यादा हिंसक हैं। केवल नारी ही क्यों पुरुष में भी आनन्द उच्च गुणों की उद्भावना को न दिखा पाये, बाह्य संघर्ष ने आंतरिक गुणों का लोप कर दिया, जीवन की ज्वाला में सहज कोमलता झुलस गई और समाज की तम धूलि में मनुष्य की स्वाभाविक उज्ज्वलता भी आच्छन्न हो गई।

प्रेमचन्द में उत्तर प्रदेश और विशेषतः पूर्वी उत्तर प्रदेश को ही स्थान मिला है परन्तु आनन्द ने समस्त भारत (उत्तरी भारत) का

पर्यवेक्षण किया है, यद्यपि वे केवल नगर या शहरीपन तक ही रहे हैं और पंजाब की गंध आसाम में भी उनका पीछा नहीं छोड़ पाई (टू लीवज़ एण्ड ए बड); बगाल, बम्बई, अहमदाबाद आदि के चित्रों में प्रेमचन्द जैसी सच्चाई नहीं है। कहा जाता है कि प्रेमचन्द में वातावरण और प्राय. घटनाओं की भी आवृत्ति है इसलिए एक उपन्यास पढ़ चुकने के बाद दूसरे उपन्यास में वह सरसता नहीं रहती और सब उपन्यास पढ़ चुकने पर पाठक एक विशेष एक रसता का अनुभव करने लगता है, इस दृष्टि से आनन्द में वैचित्र्य का आकर्षण है; परन्तु वातावरण की आवृत्ति अपने आप में कोई बड़ा दोष नहीं है— यदि लेखक में यह शक्ति है कि वह अपनी रचना से पाठक के मन में तत्सदृश भावना उत्पन्न कर सके और उसे नायक के प्रति श्रद्धालु बना सके तो आवृत्ति भी अलंकार है विकार नहीं। आनन्द तीव्र गति से जीवन के अनेक रूपों को देखते गये हैं परन्तु वे कहीं टिके नहीं। इस लिए पाठक के मन पर उनकी किसी रचना-विशेष की स्थायी छाप नहीं रहती, हाँ, इन विभिन्न चित्रों में जो विद्रोह एवं वेदना की ज्वाला है उसका प्रभाव पाठक पर अवश्य ही पड़ता है और वह झुँझलाकर कुछ उपचारों का विचार करने लगता है।

प्रेमचन्द और आनन्द दोनों के नायक प्राणवान् और आत्मविश्वास-पूर्ण हैं, दोनों में संघर्ष की शक्ति है और दोनों को समाज तथा परिस्थितियों के हाथों खेलना पड़ता है फिर भी दोनों के व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न है। आनन्द के प्रायः सभी नायक नवयुवक है जिनके मन मे विद्रोह की अनन्त ज्वाला प्रज्वलित रहती है और जो संघर्ष से जूझते हैं, टकराते हैं और स्थानच्युत होकर आगे बढ़ते रहते हैं। प्रेमचन्द के नायक भी संघर्ष करते हैं परन्तु वे सभी प्रौढ़ हैं प्रायः गृहस्थ जीवन बिताने वाले, समाज की झूठी मर्यादाओं के नीचे दबकर वे अत्याचार सहते रहते हैं; वे ग्राम छोड़कर उसड़ नहीं भागते; और जो विद्रोह उनके मन में जगता है वह परिस्थितियों में पिसकर मनोबल में परिणत हो जाता है। 'गोदान' के होरी की तुलना आनन्द के किसी पात्र से नहीं हो सकती। परन्तु बक्खा और मुन्नू निश्चय ही गोबर के विकसित रूप हैं। होरी मानो गांधीवादी विचारधारा के स्वर में निरन्तर संघर्ष के लिए प्रस्तुत होता हुआ कहता है—हम लड़ते रहेंगे, इसी ग्राम मे रहकर प्रतिरोधी शक्तियों से जूझते रहेंगे और एक न एक दिन हमारी विजय अवश्य होगी क्योंकि हमारा मार्ग अहिंसा का है और हमारा अवलम्बन

सत्य है। आनन्द के नायक में विद्रोह है परन्तु धैर्य नहीं, जीवन के प्रति अन्धानुराग है परन्तु परिस्थितियों को अनुकूल बनाने की शक्ति नहीं, समाज के अत्याचारों को वह व्यक्तिगत आपत्तियों के रूप में लेता है। प्रेमचन्द गांधीवाद और भारतीयता की उपज है तो आनन्द समाजवाद और यूरोपीय संस्कृति के परिणाम।

जीवन-यात्रा में चलते चलते प्रेमचन्द के पात्र इतने निखरे हुए दिखाई पड़ते हैं कि पाठक के मन में उनके प्रति श्रद्धा जग जाती है, किसान और मजदूर भौतिक दृष्टि से चाहे जितने पिछड़े हुए हों, आन्तरिक गुणों की दृष्टि से वे सामान्य से बढ़कर ही नहीं, आधुनिक चकाचौंध में रहने वाले सभी तथाकथित सभ्य जनों से महत्तर हैं। प्रेमचन्द एक ओर तो समाज के अत्याचारों का प्रभावपूर्ण चित्रण कर के पाठक की सहानुभूति सुरक्षित कर लेते हैं दूसरी ओर इन पात्रों के आन्तरिक गुणों का चित्रण करके इनकी महत्ता का आलोक पाठक के मन पर फैला देते हैं। फलत जो काम करुणा से सम्भव न था वह श्रद्धा से स्वत सम्पन्न हो जाता है और पात्रों के व्यक्तित्व की एक स्थायी छाप पाठक के हृदयपटल पर अंकित होकर उसको अपने अनुकूल बनाने में समर्थ होती है। आनन्द के पात्रों से पाठक को सहानुभूति होती है परन्तु अनुराग नहीं, मन में सिहरन उठती है परन्तु आकर्षण नहीं। जब तक उपन्यासकार अपने नायक के प्रति उसके उच्च गुणों से उत्पन्न श्रद्धा पाठक के मन में न जगा पायगा तब तक उसकी कृति अमर नहीं हो सकती।

आनन्द के सभी उपन्यास बड़ी बड़ी कहानियाँ हैं जिन में नायक के अतिरिक्त दूसरे पात्रों को कोई विशेष स्थान नहीं मिला और ये सब कहानियाँ एक साथ मिल कर भी भारत का पूरा चित्र नहीं खींच पातीं। लेखक के मन में कुछ भावनाएं थीं जिनको उसने कथा का रूप दे दिया है, भारत की ८० % जनता ग्रामों में रहती है और कृषि द्वारा जीविकोपार्जन करती है, इस जनता के बिना कोई भी चित्र भारतीयता का प्रतिनिधि नहीं कहला सकता। प्रेमचन्द की दृष्टि व्यापक एव सामान्य थी इसलिये वे भारत की अधिकतम जनता को चित्रित कर सके, उनके हृदय में ग्रामीण समस्याओं की जो आग जल रही थी उसकी लपटों में वे शहर की उन छोटी-छोटी चिनगारियों को भूल बैठे जो अन्यत्र जा कर ज्वाला का प्रतीक बन गई हैं। आनन्द की सब से बड़ी विशेषता यही है कि उन्होंने शहर के एक कोने में पड़े रहने वाले उन उपेक्षित

प्राणियों को अपने साहित्य में स्थान दिया है जिनकी ओर भारतीय उपन्यास लेखक की दृष्टि कम ही गई थी और ताराशंकर के समान वे इस का भी अनुभव करते हैं कि इन तुच्छ प्राणियों को आज समाज भले ही नगण्य समझ ले परन्तु नये युग में इन का विशेष महत्त्व होगा।

शरत् प्रेमचन्द, ताराशंकर और आनन्द लगभग समकालीन हैं परन्तु उनके व्यक्तित्व भिन्न भिन्न हैं अत उनकी कृतियों में भी आदर्श भेद है। शरत् प्रारम्भिक युग के बंगला के उपन्यासकार हैं अतएव उनका प्रयत्न सामाजिक विश्वासों की निस्सारता प्रदर्शित करना है और क्यों कि विकृत समाज का सब से प्रखर प्रहार नारी के माथे पर था इसलिये शरत् की सहानुभूति प्राप्त करके वह अपने साहित्यिक रूप में और भी निखर उठी है और उसका सहज व्यक्तित्व पाठक की अपार श्रद्धा का अधिकारी हो गया है। प्रेमचन्द ने नारी के प्रति भी श्रद्धा अर्पित की परन्तु वे आगे भी बढ़े और उन कारणों पर उन्होंने अपना ध्यान केन्द्रित किया जो नारी और पुरुष दोनों में से मनुष्यत्व का लोप किया करते हैं, ताराशंकर और आनन्द दोनों नारी को भूल बैठे हैं या कम से कम वे नारी के उस स्वाभाविक रूप को उस उत्कर्ष में न देख सके क्योंकि उनकी दृष्टि अर्थ और शासन पर केन्द्रित थी उन्होंने समाज के उपेक्षित मानवों की दशा पर आँसू बहाए किन्तु उनके गुणों के प्रति पाठक के मन में श्रद्धा न जगा सके—ताराशंकर में तो कुछ प्रयत्न है भी परन्तु आनन्द ने इस ओर किंचित् मात्र भी ध्यान नहीं दिया। प्रेमचन्द कड़कडाती धूप में और खून को जमा देने वाले शीत में अथक् परिश्रम करते हुए किसान के जीवन को ही अपने चित्रण का उद्देश्य मानकर चले, ताराशंकर ग्राम निवासी दलित कृषि शून्य हरिजनों के दयनीय चित्रण में व्यस्त रहे हैं और आनन्द ने इन दोनों से अलग नगर के पतित वर्ग को लिया है, इस दृष्टि से ये तीनों परस्पर में पूरक हैं। प्रेमचन्द शुद्ध गान्धीवादी हैं और उनकी समस्याएं और समाधान भी उसी विचारधारा से प्रभावित हैं। ताराशंकर और आनन्द पर गांधीवाद का उतना प्रभाव नहीं, हाँ, वर्तमान समस्याओं का सच्चा चित्र मिलता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में भारतीय जीवन का प्रतिनिधि चित्र है। अत गोदान को आधुनिक भारतीय जीवन का गद्य महाकाव्य कहा जा सकता है, पर तु शरत्, ताराशंकर या आनन्द का कोई भी उपन्यास इस पद के योग्य नहीं है भले ही उन में कला का उत्कर्ष हो।

कुरुक्षेत्र

रामायण और महाभारत कवियों के नित्य प्रेरणा-स्रोत हैं। रामायण का उद्देश्य निश्चित है रामादिवत् आचरण का प्रचार एवं रावणादिवत् आचार में अनुत्साह, परन्तु महाभारत बहु आदर्श संकुल है। रामायण में अनार्य संस्कृति पर आर्य संस्कृत की विजय का मूर्त्त चित्र है, परन्तु महाभारत के समय तक आर्य जाति की अन्त-कलह भी महासमर में परिणत हो रही थी। महाभारत स्वत्वों के लिये समन्वय संघर्ष की कहानी है, एक ओर दुर्योधन उत्तराधिकार में प्राप्त राज्य के विभाजन को नितान्त अस्वीकार कर देता है, दूसरी ओर पाण्डुपुत्र पूर्वजों की सम्पत्ति (राज्य) में अपना भाग माँगते हैं; यह निर्णय वस्तुतः कठिन है कि जो पाण्डु शारीरिक अयोग्यता के कारण राज्यच्युत हो चुके थे उनके पुत्र उस राज्य के भागी हैं या नहीं, इसीलिए कुछ आर्य पुरुष युधिष्ठिर के सहायक थे तो कुछ दुर्योधन के भी। यह युद्ध व्यक्तियों का संघर्ष मात्र नहीं था, प्रत्युत सिद्धांतों का युद्ध था; और इसमें जय भौतिक शक्ति पर निर्भर नहीं प्रत्युत धर्म-शक्ति पर आधारित थी; इसीलिए व्यास ने सदा के लिये यह घोषणा की कि जहाँ भगवान् कृष्ण हैं वहीं धर्म है और जहाँ धर्म है वहाँ (भौतिक सामग्री की अपेक्षाकृत न्यूनता में भी) जय अवश्य-म्भावी है।

इस युद्ध से तत्काल पूर्व एक अवसर ऐसा आया जब पृथा-पुत्र अर्जुन की मानसिक दुर्बलता ने उनको विकल्प-भ्रमर में फँसा दिया। वे सोचने लगे कि स्वजन की हत्या करके रुधिरप्रदिग्ध राजसुख कभी भी श्रेयस्कर नहीं हो सकता, इससे तो भिक्षा पुष्ट शांत जीवन ही अच्छा है। तब स्वयं योगिराज ने उस अनघ को इस पलायनरूप अनार्य-जुष्ट एवम् अकीर्तिकर विचार के लिए धिक्कारा तथा सिद्धि असिद्धि में समभाव से योगस्थ कर्म का उपदेश दिया। इस कर्मोपदेश का इतना महत्व है कि इस युद्धस्थल को केवल धर्म-क्षेत्र ही नहीं माना गया, प्रत्युत धर्म के निश्चित रूप कर्त्तव्य (कुरु = करो) को दृष्टि में रखकर स्वयं व्यास ने इसको 'धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्र' (= धर्मक्षेत्र अर्थात् कुरुक्षेत्र,

दिनकर जी की कृति से भी हम तथैव आशा रखते थे, परन्तु वह पूरी न हो पाई। जिस प्रकार लका विजय के बिना रामकथा उसी प्रकार महायुद्ध के बिना कुरुक्षेत्र की कहानी घटना शून्य सी लगती है। कवि के निकट इस नाम के दो ही समर्थन हो सकते हैं। प्रथम, युधिष्ठिर-भीष्म का यह युद्धोत्तर सवाद कुरुक्षेत्र की प्रसिद्ध स्थली में ही घटित हुआ था। द्वितीय इस सवाद की समस्या कुरुक्षेत्र की घटना ही है। परन्तु ये दोनों ही समर्थन इतने निर्बल हैं कि उनकी समवेत शक्ति भी नाम-दोष के प्रक्षालन में समर्थ नहीं कुरुक्षेत्र की घटना इतनी दिक्कालव्यापिनी है, कि भारतीय इतिहास में उसकी समानता उपलब्ध नहीं होती, और वह घटना एव वह घटनास्थल परस्पर में असम्पृक्त हैं। इसके अतिरिक्त इस सत्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि कुरुक्षेत्र सूक्ष्म दृष्टि से कुरुत्व अथवा कर्त्तव्यनियोग का क्षेत्र है, कर्मावसाद का नहीं, अत उपशामी मुख कर्मावसाद का उपदेश उस प्रख्यात रंगमच के अनुकूल नहीं है।

कवि के अनुसार 'कुरुक्षेत्र' एक 'प्रबन्ध-कविता' अर्थात् 'प्रबन्ध काव्य' है। यह कथन सत्य से अधिक दूर नहीं क्योंकि यदि घटना तारतम्य के स्थान पर विचार सूत्र की एकता को प्रबन्ध का लक्षण माना जाय, और कम से कम षष्ठ सर्ग को इस रचना से बाहर निकाल लिया जाय तो इस कृति को प्रबन्ध-का य कह कर अभिहित किया जा सकता है। परन्तु जब तक घटना बन्धन को ध्यान में रखकर ही किसी काव्य को प्रबध या मुक्तक सज्ञा दी जाती है, तब तक घटनाशून्य विचारजीवी लम्बी कविता को, सर्ग सापेक्ष में भी, 'प्रबन्ध-कविता' कहना शास्त्रीय परम्परा के अनुकूल नहीं है। 'कुरुक्षेत्र' में कोई घटना तो है नहीं, केवल एक समस्या है, जिसका विवेचन साधिकार तथा सप्रमाण है, यह एक पद्य प्रबन्ध है जिसमें युद्ध की समस्या पर विस्तार से विचार किया गया है। यदि इसमें भीष्म और युधिष्ठिर न आते तो इसको पद्य प्रबन्ध कह देते यदि घटनाएँ होतीं तो प्रबन्ध का य नाम मिल जाता; वर्तमान रूप में यह 'समस्या-काव्य' है। परन्तु 'समस्या-काव्य' हिन्दी साहित्यिक के मन में एक दूसरा भी संकेत जगा देता है, इसलिए शैली सुगठन तथा रचना के प्राण को दृष्टि में रख कर इस प्रकार की रचना को 'समस्या प्रबन्ध' कहना भी उचित होगा। दिनकर जी को यह ध्यान था कि सगठन के वैशिष्ट्य से युक्त हो कर भी घटना शून्यता के कारण उनकी यह रचना प्रबंध-काव्य नहीं

हो सकती, इसीलिए प्रबन्ध काव्य के पारिभाषिक अर्थ से बचने के लिए उन्होंने इसको 'प्रबन्ध कविता' नाम दिया। यदि 'प्रबन्ध कविता' एक नया नाम है तो इस रचना को प्रबंध कविता कहने में मतभेद को कोई स्थान नहीं। इसी दृष्टि से षष्ठ सर्ग का अंतर्निवेश कोई दोष नहीं क्योंकि यह विचार शृंखला का उतना पोषक भले ही न हो, उस विचार क्रम में बलादाकृष्ट सा नहीं लगता, युद्ध की विभीषिका से संतप्त आत्मा का वह संवेदनात्मक उद्गार है।

कुरुक्षेत्र की समस्या युद्ध की समस्या है, और कवि के शब्दों में 'युद्ध की समस्या मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़' है, परन्तु युद्ध की समस्या है क्या ? युद्ध के भयंकर परिणाम से कम्पित होकर हम यह सोचते हैं कि युद्ध तो सर्वघातक है, इसकी सर्वभक्षिणी जिह्वा से विजित के साथ साथ विजयी भी तो नहीं बच पाता। परन्तु क्या युद्ध अनिवार्य है ? कवि ने इसका प्रत्यक्ष उत्तर नहीं दिया। फिर भी परिस्थितियों से ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्वत्व का निर्णय अंत में तलवार से ही होता है। अस्तु, युद्ध 'अनिवार्य भी'[1] है तथा 'निन्दित और क्रूर' भी, तब अन्तिम प्रश्न यह है कि 'इसका दायित्व किस पर होना चाहिए' ? उस पर जो अनीतियों का जाल बिछा कर प्रतिकार को आमन्त्रण देता है ? या उस पर जो जाल को छिन्न भिन्न कर देने के लिये आतुर है ?' —

> पापी कौन ? मनुज से उसका
> न्याय चुराने वाला ?
> या कि न्याय खोजते विघ्न का
> शीश उड़ाने वाला ?

और इसका उत्तर पितामह के शब्दों में ही कवि का प्रतिपाद्य स्वीकार करना पड़ेगा —

> चुराता न्याय जो, रण को बुलाता भी वही है
> युधिष्ठिर ! स्वत्व की अन्वेषणा पातक नहीं है।

युधिष्ठिर उद्विग्न तथा अशान्त जिज्ञासु हैं, और पितामह तपोवृद्ध उपदेशक, अतः भीष्म का मन्तव्य ही कवि का स्वमत है। युद्ध सम्बन्धी

(१) जब तलक हैं उठ रहीं चिनगारियाँ
भिन्न स्वार्थों के कुलिश संघर्ष की
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।

प्रति घृणा[२] भरी है, मानो सब मौन स्वर मे उनको धिक्कार रहे हैं। स्वगत विश्लेषण करते हुए युधिष्ठिर ने सोचा कि हम पाच भाई इतने असहिष्णु है कि सारे ससार का सहार करा बैठे, हमारा स्वार्थ कितना घातक सिद्ध हुआ, अगर मुझको युद्ध के ऐसे दारुण परिणाम का अनुमान भी होता तो मैं तन बल का नितान्त परित्याग करके मनोबल के द्वारा विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता। युधिष्ठिर के ऐसे करुण उद्गार उन की आत्मग्लानि के ही द्योतक नहीं, उनके प्रच्छन्न पाप को भी प्रकट करते हैं। आत्मविश्लेषण करते हुए हम केवल उन्हीं मनस्सूत्रों तक पहुँच सकते हैं जो हमारे अन्तस्थल मे विद्यमान हों, भले ही उनका आकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो, यदि युधिष्ठिर के मन मे स्वार्थ, दम्भ आदि के बीज न रहे होते तो वे आत्मविश्लेषण मे, भूल से भी, उन तक न पहुँचते। अस्तु, दिनकर जी के युधिष्ठिर आत्मग्लानि मे स्वकीय विश्लेषण करते हुए इतने दुर्बल तथा पापभागी बन गये हैं जितने यथार्थ में वे थे नहीं। इतना तो ठीक था कि मैं सुहृद्वधकर तथा किल्विष-पंकिल हूँ, मैं विपाप्मा किस भाँति हो सकूँगा (महाभारत), परन्तु इससे आगे बढकर अपने धर्म-कार्य को भी अघमूल बताकर पाप की स्वीकारोक्ति युधिष्ठिर को कायर के साथ साथ प्रच्छन्नकिल्बिषी भी सिद्ध कर देती है।

पितामह भीष्म महाभारत के एक आदर्श पात्र हैं, कठोर प्रतिज्ञा तथा तपोमय जीवन ने उनको इतना उच्च बना दिया था कि उनकी प्रतिज्ञा को अक्षुण्ण रखने के लिए स्वय युगपुरुष कृष्ण को अस्त्र शस्त्र ग्रहण न करने की अपनी प्रतिज्ञा तोड़ देनी पड़ी, वे ऊर्ध्वरेता तथा मृत्युञ्जय है, शरशय्या से तत्काल पूर्व के कपिध्वज के उद्गार पितामह के स्नेहसिञ्चित मानस का कुछ आभास देते हैं, युद्धस्थल पर भी पाण्डवों के लिए उनके मन का सकारण पक्षपात था। 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म भी कठोर, दृढ एवं कर्मवीर हैं, वे स्वय आजन्म ब्रह्मचारी होकर भी युधिष्ठिर को प्रवृत्ति एव निष्काम कर्म का उपदेश देते हैं, उनका जीवन समष्टिहित सघर्ष का निदर्शन है, भौतिक बल को वे आवश्यक मानते हैं। परन्तु दिनकर जी ने पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक छाया में पितामह के व्यक्तित्व का एक नया सूत्र खोज निकाला। ब्रह्मचर्य का अर्थ है अस्वाभाविक जीवन, निरन्तर प्रतिरोध के द्वारा मन की कोमलता को दबा-दबा कर निष्करुण कठोरता मे परिवर्तित कर देना। यदि उनके मन मे प्रेम की अमरता प्रकट

---

१ ऐसा लगता है, लोग देखते घृणा से मुझे,
धिक सुनता हूँ अपने पै कण-कण में।

हुई होती तो उनकी सन्तति आपस मे ही न मर मिटती और देश को कुरुक्षेत्र का अभागा दिन न देखना पड़ता।

जीवन के अरुणाभ प्रहर मे, कर कठोर व्रत धारण
सदा स्निग्ध भावों का यह जन, करता रहा निवारण॥

कभी वीरता को उभार, रोका अरण्य जाने से,
वचित रखा विविध विधि मुझको, इच्छित फल पाने से॥

कर पाता यदि मुक्त हृदय को मस्तक के शासन से,
उतर पकड़ता बाँह दलित की, मन्त्री के आसन से॥

स्नेह शून्य मानस तथा अमात्य पद का लोभ भीष्म के जीवन मे ये दोनों ही विकृत गवेषणाएँ हैं; यद्यपि इन दोनों मे वर्त्तमान युग के दो आन्दोलनों की छाया है, फिर भी इनको वरेण्य नहीं कहा जा सकता। यह खोज वैसी ही है जैसे कोई सत्यवती और देवव्रत के पूर्व परिचय एव साहचर्य जन्य प्रेम का चित्रण करके सत्यवती वञ्चित भीष्म की कुण्ठा का सत्यवती संतति कौरव पाण्डवों की अन्त कलह के रूप में विस्फोट दिखा दे।

'कुरुक्षेत्र' द्वापर युग का काव्य है और कहते हैं कि उस समय ज्ञान विज्ञान की चरम उन्नति हो चुकी थी, मानव ने देश काल पर विजय प्राप्त करके विस्फोटक तथा विनाशक युद्ध यन्त्रों का भी आविष्कार कर लिया था, विभिन्नताओं की सहअस्तित्वमानता जब सम्भव न हो सकी तब तलवार ने एकबार ही सब सघर्षों का निर्णय कर दिया। हमारा युग भी उसी युग का अनुकरण करता जा रहा है, और यदि प्रगति की यही गति रही तो मानव की सुगति मानव रक्त से ही होगी। कवि का प्रस्ताव है हृदय का प्रसार तथा मस्तिष्क पर हृदय का अनुशासन और कवि को विश्वास है कि पापोत्तर पश्चात्ताप में ही इस आशा के बीज निहित हैं। भीष्म के शब्दों मे —

आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण भीति से।

•

हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से।

जो भीष्म मनोबल को कायरता का ही पर्याय समझ रहे थे वे अन्त मे जब युधिष्ठिर से सहमति प्रकट करने लगते हैं तो हमको उनके आजीवन संचित अनुभव, ज्ञान एव तप पर अश्रद्धा होने लगती है, और पिछले

चाणक्य और चन्द्रगुप्त

विक्रम से लगभग तीन शताब्दी पूर्व विश्व की दो महान संस्कृतियाँ एक बार परस्पर सम्पर्क में आईं। इसका उल्लेख उन दोनों के साहित्य में उपलब्ध है। इस सांस्कृतिक विनिमय में भारत को यूनान पर प्रमुखता प्राप्त हुई थी, यह इस घटना से ही सिद्ध नहीं होता कि यूनान की राजकुमारी भारत की राजलक्ष्मी बनी, प्रत्युत यूनानी लेखकों में भारत की प्रशंसा परंतु भारतीय साहित्य में यूनान के प्रति उदासीनता भी उक्त तथ्य का ही एक सबल प्रमाण है। भारत के विषय में दोनों ही देशों के लेखक जागरूक थे; परंतु दोनों के दृष्टिकोण भिन्न थे। विदेशी लेखक किसी न किसी रूप में राज्याश्रित थे अतः उनकी दृष्टि शासक और शासन पर ही केन्द्रित रही, फलतः उस साहित्य में चन्द्रगुप्त की ही यशोगाथा है चाणक्य की नहीं[1]। इसके विपरीत भारत में कर्त्ता की अपेक्षा कारयिता का महत्त्व अधिक है; इसलिये (धनुर्धर पार्थ के सदृश) मौर्य चंद्रगुप्त की अपेक्षा (योगेश्वर कृष्ण के समान) ब्राह्मण चाणक्य भारतीय लेखकों के समक्ष अधिक श्रद्धास्पद रहे हैं। वस्तुतः भारतीय इतिहास का यह एक स्वर्णयुग था जब क्षत्र और ब्रह्म युगपत् जनता एवम् मही के कल्याण के निमित्त सन्नद्ध हुये थे[2]। यद्यपि भारतीय और यूनानी विवरण परस्पर सम्पूर्ति के साधन हैं, फिर भी यह कहना उचित नहीं कि भारतीय लेखकों ने चाणक्य को

---

१. उस साहित्य में चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध की सामान्य घटनाओं का भी उल्लेख है, परन्तु चाणक्य का कहीं संकेत भी नहीं पाया जाता। फलतः विद्वानों की ऐसी धारणा हो चली है कि ये यूनानी विवरण गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त प्रथम से सम्बद्ध हैं मौर्य चन्द्रगुप्त से नहीं। देखिए डी० आर० मनकद लिखित "पौराणिक क्रोनोलोजी" (प्रथम संस्करण, १९५१), पृ० २५६, २७२ तथा २८८।

२. क्षत्र (इम्पीरियम) एण्ड ब्रह्म (सेकरडोटियम) केम टुगैदर एण्ड एंगेज्ड इन दी मोस्ट फ्रुटफुल कोअपरेशन फार दी ग्रेट गुड आफ दी लॅण्ड एण्ड दि पीपुल। (इन्ट्रोडक्शन, पृ० २) (फर्स्ट एडीशन, १९५२) के० ए० नीलकण्ठ शास्त्रीः एज ऑफ दि नन्दाज एण्ड मौर्याज।

इतना अधिक महत्व दिया है कि अलक्षित प्रतिक्रिया के रूप में यूनानी लेखकों का साहित्य सतुलन के लिए अनिवार्य एवम् अनुपेक्षणीय है[1]। सत्य तो यह है कि यूनानी विवरण एकांगी एवम् अपूर्ण है। यूनानी दृष्टि ब्राह्म तेज के मर्म से सर्वथा वंचित रह गई है।

हिन्दू पुराणों के अनुसार ब्राह्मण चाणक्य ने नव नन्दों का विनाश करके चन्द्रगुप्त का मगध के शासन पर अभिषेक किया[2]। बृहत्कथा[3], कथासरित सागर, दशकुमारचरित[4], कादम्बरी[5], तथा पञ्चतत्र[6] मे चाणक्य का स्पष्ट उल्लेख है। कामन्दक ने विष्णुगुप्त को नमस्कार[7] करते हुये उसकी मंत्रिशक्ति[8] की प्रशंसा की है। बौद्धों के दीपवंश, महावंश तथा आर्य-मञ्जुश्री-मूलकल्प और जैनों के परि-

---

१ इट इज आॅलसो क्वाइट क्लियर दैट टु मच क्रैडिट हैज बीन गिवन इन हिन्दू बुद्धिस्ट एण्ड जैन लीजैन्डस टू चाणक्य, एण्ड टू लिटल टु. चन्द्रगुप्त "। दि ग्रीक एंड रोमन अकाउन्ट्स एज यूजुवल गिव्स नैसेसरी करैक्टिव बाई एसक्राइबिंग दि कोंकुअरेर आॅफ इण्डिया सोलली टु चन्द्रगुप्त एण्ड बाई सेइंग नथिंग एटआल अबौउट चाणक्य। (इन्ट्रोडक्शन, पृ०, ३८) ए० एस० पंचापकेश अय्यर चाणक्य एन्ड चन्द्रगुप्त (१९५१)

२. तान् नन्दान् कौटिल्य, ब्राह्मण: समुद्धरिष्यति।

कौटिल्य एवं चन्द्रगुप्त राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥

३ चन्द्रगुप्त. कृतो राज्ये चाणक्येन महौजसा।

४. अधीष्व तावद् दण्डनीतिम्। इयम् इदानीम् आचार्यविष्णुगुप्तेन। मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रै संक्षिप्ता सैवेयमधीत्य सम्यग् अनुष्ठीयमाना यथोक्तकार्यक्षमा इति ॥

५. किंवा तेषां साम्प्रतं येषाम् अतिनृशंसप्रायोपदेशनिघृणं कौटिल्यशास्त्र प्रमाणम् ॥

६. अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि।

७. एकाकी मन्त्रशक्त्या य शक्त्या शक्तिधरोपम.।

आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ॥

नीतिशास्त्रामृत धीमान् अर्थशास्त्रमहोदधे ।

य उद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ॥

८. ज्ञानबलं मन्त्रशक्ति.। (अर्थशास्त्र।

शिष्टपर्वण तथा नीतिवाक्यामृत[1] आदि में भी इस कथा के संकेत हैं। इस सामग्री से दो निष्कर्ष नितांत स्पष्ट हैं। प्रथम, चाणक्य इतना तेजस्वी ब्राह्मण था कि ब्राह्मण-द्वेषी लेखक भी उसके प्रति उतने ही श्रद्धावान् हैं जितने कि ब्राह्मणधर्मानुयायी, द्वितीय, चाणक्य, कौटिल्य तथा विष्णुगुप्त एक ही व्यक्ति के नाम हैं—विष्णुगुप्त उसका स्वकीय अभिधान है, और कौटल्य गोत्रनाम, चणक का पुत्र होने से वह चाणक्य कहलाया। इन भारतीय उल्लेखों से यह भी स्वत सिद्ध है कि चाणक्य के ब्रह्म तेज के समक्ष चन्द्रगुप्त का क्षात्र तेज विशेष महत्वपूर्ण नहीं माना गया।

भारतीय साहित्य में सर्व प्रथम विशाखदत्त (सप्तम अष्टम शती) ने इस कथा को आधार मानकर 'मुद्राराक्षस' अभिधेय सात अङ्कों का नाटक संस्कृत भाषा में लिखा। प्रेम तत्व के स्थान पर राजनीतिक घात-प्रतिघात की योजना के कारण यह नाटक अप्रतिम है। वस्तुत दो बुद्धिशाली सचिवों[2] का परस्पर विरोध ही इसकी कथावस्तु है, चाणक्य राक्षस का प्रशंसक[3] है और इसीलिये उसको अपना बनाये बिना नन्दनाश[4] एवम् वृषलाभिषेक को अस्थिर मानता है, राक्षस भी चाणक्य के गुणों को हृदय से स्वीकार[5] करता है और उसकी नीति से वह चकित है[6], चन्द्रगुप्त की सिद्धि को दोनों ही सचिव

---

१ श्रूयते हि किल चाणक्य तीक्ष्णदूतप्रयोगेण नन्दं जघान इति (सोमदेवसूरि विरचित)।

२ आहितुण्डिक —तदेवम् अनयो बुद्धिशालिनो सुसचिवयो विरोधे संशयितेव नन्दकुललक्ष्मी। (द्वितीय अंक)

३ साधु अमात्य राक्षस साधु। (प्रथम अंक)
चिरमाश्वासिता सेना वृषलस्य, मतिश्च मे। (सप्तम अंक)

४ अगृहीते राक्षसे किमुत्खातं नन्दवंशस्य किंवा स्थैर्यमुत्पादितं चन्द्रगुप्तलक्ष्म्या। (प्रथम अंक)

५ साधु कौटिल्य साधु। (द्वितीय अंक)
अयं दुरात्मा अथवा महात्मा कौटिल्य। (सप्तम अंक)

६, एकमपि नीतिबीजं बहुफलतामेति यस्य तव। (द्वितीय अंक)
दुर्बोधि चाणक्यवगो नीतिमार्ग। (षष्ठ अंक)

यत्त[1] मानते हैं। राक्षस वीर, भावुक, दयालु तथा सच्चा है; परंतु चाणक्य चतुर, बुद्धिमान, निष्ठुर तथा छली है। चाणक्य का लक्ष्य त्रिविध था—नन्दोन्मूलन, चंद्रगुप्त का अभिषेक, तथा राक्षस से मैत्री[2], इस उद्देश्य में वह इतना सफल हुआ कि उसकी नीति ही नियति[3] बन गई, और अपनी सफलता के साथ साथ वह सहज ही चंद्रगुप्त तथा राक्षस का आदरास्पद[4] होगया। इस नाटक में चाणक्य के उद्देश्य का अन्तिम अङ्ग (राक्षस से मैत्री) मात्र है, इसलिये यूनानियों[5], की चर्चा नहीं आई और न चंद्रगुप्त के विवाह का संकेत है; प्रथम दो अङ्कों तक तो चंद्रगुप्त के दर्शन भी नहीं होते चतुर्थ, पंचम षष्ठ अङ्कों में भी वह नहीं हैं—चंद्रगुप्त मिलता है केवल तृतीय और सप्तम अङ्कों में ही। यहाँ राक्षस सम्भ्रांत गृहस्थ है और चाणक्य कार्यनिष्ठ बटुक; राक्षस को मंत्री बनाकर चाणक्य मानो आर्य जीवन में प्रविष्ट हो जाता है। विषकन्या तथा मुद्रा चाणक्य-नीति के दो मूलाधार हैं।

इस कथा पर आधुनिक युग में भी दो नाटक लिखे गए हैं। बंगीय नाटक कार द्विजेन्द्रलाल राय ने पाँच अंकों के अपने 'चन्द्रगुप्त' (नाटक) में 'मुद्राराक्षस' की कथा को बचाया है; इसमें राक्षस ही नहीं

---

१. चाणक्य—वृषल श्रूयताम्। इह खल्वर्थशास्त्रकाराः त्रिविधां सिद्धिम् उपवर्णयन्ति—राजायत्तां, सचिवायत्ताम्, उभयायत्तां चेति। ततः सचिवायत्तसिद्धे तव किं प्रयोजनान्वेषणेन॥

राक्षस—चन्द्रगुप्तस्तु दुरात्मा नित्यं सचिवायत्तसिद्धावेव स्थित. चक्षुः विकल इव अप्रत्यक्षलोकव्यवहारः कथमिव स्वयं प्रतिविधातुं समर्थः स्यात्॥

२. राक्षसेन समं मैत्री, राज्ये चारोपिता वयम्।
नन्दाश्चोन्मूलिताः सर्वे, किंकर्त्तव्यमतः प्रियम्॥ (सप्तमः अंकः)

३. भागुरायण—अहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः। (पञ्चम. अंकः)
सिद्धार्थक—दैवमत्या इव अधुनाग्र्यै नमः चाणक्यनीत्यै। (षष्ठः अंकः)

४. भो राजन् चन्द्रगुप्त, भो अमात्य राक्षस, उच्यतां किंवा भूयः प्रियमुपकरोमि।

५. अष्टम शती तक चन्द्रगुप्त मौर्य का यूनानियों से कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता था। कदाचित् उपरकथित मनकद जी का निष्कर्ष ठीक ही हो कि सिकन्दर गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त प्रथम के काल में आया था।

है इसलिए विषकन्या तथा मुरा का कोई प्रश्न नहीं। यूनानी इतिहास के आधार पर चन्द्रगुप्त का चित्र, सिकन्दर और सेल्यूकस के आक्रमण तथा सेल्यूकस की पुत्री से चन्द्रगुप्त का विवाह इस नाटक की कथावस्तु के आधार हैं। चाणक्य की पत्नी मर गई, पुत्री को डाकू उठा ले गये वह हताश[1] एवं निष्करुण[2] बन गया तब कात्यायन ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए उसको उपदेश देकर[3] राजविरोधी कर दिया; चाणक्य इतना विक्षिप्त है कि आदिशक्ति को 'प्रेयसी' तथा 'सुन्दरी'[4] कहकर आकाश-भाषित[5] की शैली पर उससे बातचीत करने लगता है। इधर नन्द से अपमानित हो कर शूद्रा मुरा ने अपने पुत्र चन्द्रगुप्त को उकसाया और उसे बड़े भाई (नन्द) का शत्रु बना दिया। नन्दनाश के कुछ समय अनन्तर चाणक्य को अपनी पुत्री आत्रेयी मिल गई फलतः उसका कठोरहृदय फिर स्नेह सिञ्चित हो गया, और वह प्रकृतिस्थ बन गया। यूनानी राजकुमारी हेलेन तथा चन्द्रकेतु की भगिनी छाया इस नाटक में कल्पित तथा कोमल पात्र हैं—छाया में नाटककार ने बगदेश की श्यामवर्णा कोमल-हृदया किशोरी का करुण चित्र उपस्थित किया है; हेलेन में कर्तव्य और प्रेम का असम्पृक्त रूप है। ऐन्टीगोनस की अवतारणा में समाज के दोषों, अदृष्ट की इच्छा और उदात्तीकरण का अनवद्य प्रतिफलन है। चाणक्य में प्रतिहिंसा की भावना इतनी प्रबल थी कि

---

१. ना तुमि अपराध कर्बे केन। तुमि कोन अपराध कर नाइ। राजा कोन अपराध कर नाइ। ईश्वर कोन अपराध करेन नाइ। जत अपराध-आमार। (५)

२. विश्वास कर बन्धु, आज आमि बड़ दीन।.. बाहिरेपइ अद्भुत मनीषा देखछो, किन्तु आमार हृदय चिरे देख बन्धु! ए एक शुष्क मरुभूमि-एक कणा करुणा नाइ, स्नेह नाइ, विश्वास नाइ,... (११६)

३. एकाकी बसे निष्फल अनुशोचना ना करे नूतन उद्यमे बुक बाँधो, कर्मस्रोते गा ढेले दाओ।. आज आमरा दुइ ब्राह्मण मिलित मिलित हइ। आमादेर प्रति अन्यायेर प्रतिशोध नेइ। ,१२—३)

४. तुमि आमाके शिखियेछो-संसारके घृणा कर्त्ते, ममताके तुच्छ कर्त्ते, ईश्वरेर अत्याचारेर विपक्षे सोजा हये बुक फुलिये दाँडाते।'''हे सुन्दरी। (८)
हे अदृश्य महाशक्ति! कि मधुर पूतिगन्धमय आगारेर माझखान दिये आमार हाते धरे निये चलेछ। (४२)

५. किछु बोझे ना। प्रेयसी! कि बल। (४६)

उसने संसार में स्नेह तथा क्षमा[1] को कल्पना मात्र समझा और उसकी नीति स्मित के आवरण में विष प्रयोग[2] मात्र बन गई; उसका यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक भारत है तब तक समाज का शासक ब्राह्मण ही रहेगा[3]। कात्यायन ने चाणक्य को साधन बनाया और चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को, फिर भी चाणक्य का यश इसीलिए गुरुतर है कि वह कथावस्तु में प्रारम्भ से अन्त तक घटनाओं का संचालक बना हुआ है।

जयशंकर प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त मौर्य' नामक चार अंकों के ऐतिहासिक नाटक में द्विजेन्द्रलाल राय की रचना से भी लाभ उठाया होगा; कथावस्तु की रूपरेखा दोनों नाटकों में समान है। केवल प्रसाद ने उस युग का सांस्कृतिक चित्र उपस्थित करने के उद्देश्य से अपने नाटक को अधिक सम्पन्न बना दिया है। तक्षशिला में विद्याभ्यास करते हुए ब्राह्मण चाणक्य ने अपनी मातृभूमि मगध में नन्द के कुकृत्यों की चर्चा सुनी, उसका ब्रह्म तेज निखर उठा, और अपनी कूटनीति के बल पर शूद्र के स्थान पर गो-ब्राह्मण के हितार्थ सच्चे क्षत्री को मूर्धाभिषिक्त[4] करने का उसने सफल प्रयत्न किया; चाणक्य न व्यक्तिगत कारणों से किसी का विरोधी है और न आपत्तियों की ठोकरों से वह अतिसामान्य (एबनौरमल) ही बन गया है; चाणक्य कर्त्तव्यनिष्ठ है इसलिए वह क्रूर[5] दिखाई पड़ता है परन्तु वस्तुतः उसका लक्ष्य श्रेय है प्रेय[5] नहीं, इसी हेतु वह

---

१. खबर्हार कात्यायन—क्षमा नाइ। पृथिवीते केउ काउ के क्षमा करे ना, करते पारे ना। . आमि कखन देखलाम ना जे, कोन माञ्जनाय भोगा मन ठिक आगेकार मत जुड़े गेल! ता हय न। (६०)

२. जखन छुरि शाणाइछ तखन मुखे हासते हवे, जखन पानीये विष मेशाइछ तखन आलापे मोहित कर्त्ते हवे। एर नामइ चाणक्येर राजनीति। (७६)

३. कारो साध्य नाइ ताके नामाय। भारत जत दिन भारत तत दिन एइ ब्राह्मण ए समाज शासन कर्बे। तार पर एकसगे सब चूरमार। (८६) (एकादश संस्करण अग्रहायण १३३१)

४. समय आगया है कि शूद्र राजसिंहासन से हटाये जाँये और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त हों। (८९)-(सप्तम संस्करण, वि० २००७)

५. महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है। (२०६)
मैं क्रूर हूँ, केवल वर्तमान के लिए; भविष्य के सुख और शान्ति के लिये, परिणाम के लिए नहीं। श्रेय के लिये, मनुष्य को सब त्याग करना चाहिए। (२३७)

लोकमत की अवधीरणा करता[1] हुआ किसी भी साधन से सिद्धि-लाभ[2] में विश्वास करता है; चाणक्य में प्रतिहिंसा नहीं प्रत्युत आत्माभिमान[3] है वह राष्ट्र का शुभ-चिन्तक[4] ब्राह्मण है कोरा अग्निशर्मा नहीं, विवाह न करके लोकहित के सकल्प[5] का जीवन बिताता हुआ चाणक्य अन्त में निवृत्ति-लाभ करता है; इस प्रकार अपने सामाजिक जीवन में भी चाणक्य उसी वैदिक परम्परा का एक ऋषि ही है। इस नाटक का चन्द्रगुप्त न शूद्र है और न मुरा का पुत्र; तक्षशिला के विद्यालय में ही अपनी प्रतिभा से प्रभावित करके अग्रे अग्रे स्वकीय वीरत्व, निर्भयता, नेतृत्व शक्ति, सैन्य-संचालन तथा शासन-कौशल से शत्रुओं और विदेशियों तक की प्रशंसा का वह पात्र बन गया, यद्यपि राज कार्य में वह नितांत स्वतन्त्र नहीं फिर भी आत्म-सम्मान[6] की सतत ज्योति से उसका महनीय व्यक्तित्व सदैव आलोकित रहता है। प्रसाद का राक्षस बौद्ध[7] है, वह कलाप्रिय, विलासी तथा भाग्यवादी है, वह प्रणय तथा राजनीति दोनों में चाणक्य का प्रतिद्वन्द्वी है; परन्तु चाणक्य उसको इतना नहीं मानता कि प्रपंच रचकर उसकी मैत्री को स्वायत्त करे। प्रसाद में दर्शन तथा राष्ट्रीयता के साथ-साथ प्रेम और यौवन की भी पर्याप्त सामग्री है, फलतः उनका नाटक भाव-राशि की दृष्टि से विशाखदत्त के नाटक का ठीक विपरीत है; चन्द्रगुप्त की तीन प्रेयसियाँ कल्याणी, मालविका तथा कार्नेलिया नारी-जीवन

---

१. भला लगने के लिये मैं कोई काम नहीं करता कात्यायन ! परिणाम में भलाई ही मेरे कामों की कसौटी है। (२१४)

२. चाणक्य सिद्ध देखता है, साधन चाहे कैसे ही हों। (१२३)

३. तुलना कीजिए - कौन कहता है तुम अकेले हो ? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जागृत करो। समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझकर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। (स्कन्दगुप्त, चतुर्थ अंक, १४१) (आठवाँ संस्करण, सं० २००९)

४. राष्ट्र का शुभ-चिन्तन केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं। (७६)

५. मेरा संकल्प, अब आत्माभिमान ही मेरा मित्र है। (१८५)

६. संसार भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने यही समझा है कि आत्मसम्मान के लिये मर मिटना ही दिव्य जीवन है। (६०)

७. मैं स्वयं हृदय से बौद्धमत का समर्थक हूँ, केवल उसकी दार्शनिक सीमा तक— इतना ही कि संसार दुःखमय है। (७९)

के भिन्न भिन्न चित्रों का निदर्शन मात्र हैं, कल्याणी लेखक को इतनी पसन्द आई कि कार्नेलिया को भी अन्त में *'भारत की कल्याणी'* बना दिया अलका सिंहरण तथा सुवासिनी राक्षस के युगल भी पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं, मालविका राय महाशय की छाया का ही दूसरा नाम है यहाँ मरा नहीं है, परन्तु चन्द्रगुप्त के पिता (सेनापति मौर्य) तथा माता (मौर्य पत्नी) थोड़ी देर के लिए आते हैं, दाण्ड्यायन केवल सास्कृतिक कल्पना है। प्रसाद की विशेषता कथावस्तु तथा पात्रों के व्यक्तित्व मे संस्कार है, ब्राह्म तथा क्षात्र तेज का यथार्थ समन्वय 'आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिये'[1] वस्तुत इसी नाटक में इङ्गित होता है।

आधुनिक *युग* मे यह कथानक दो[2] उपन्यासों का भी आधार बना है—एक गुजरात मे और दूसरा दक्षिण में। गुजराती साहित्य शिरोमणि श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुनशी ने 'ब्राह्मणश्रेष्ठनी कथा' 'भगवान् कौटिल्य' नाम से नवल कथा (उपन्यास) रूप मे लिखी है, इसके नायक हैं 'शस्त्र ने शास्त्र ने नन्दपीडित पृथ्वीना उद्धारनार' प्रभु कौटिल्य। लेखक की मुख्य प्रेरणा है कामन्दक के निम्नलिखित शब्द —

यशो विशालवंश्याना ऋषीणामिव भूयसाम्।
अप्रतिग्राहकाणा यो बभूव भुवि विश्रुत ॥
जातवेदा इवार्चिष्मान् वेदान् वेदविदा वर ।
योऽधीतवान् सुचतुर चतुरोऽप्येकवेदवत् ॥

नैमिषारण्य तपोधनी ऋषियों का पावन प्रदेश है, इस युग मे नैमिषारण्य ने अपना स्वरूप बदला और विद्या, विनय तथा शक्ति तीनों के एकीकरण से एक प्रचण्ड अस्मिता प्रकट की, वह चणक पुत्र चाणक्य के रूप मे प्रसिद्ध हुई[3]। प्रसाद का 'आत्माभिमान' ही मुनशी जी की

---

१ स्कन्दगुप्त नाटक

२ प मुखकराज शर्मा आनन्द ने वीर वृषल' नामक एक ऐतिहासिक भावपूर्ण उपन्यास, (सन् १९४८) तीन भागों (पृ० ४३०) में लिखा है, यह पहिले उर्दू लिपि में लिखा गया था। पीछे नागरी में आया, परन्तु यह साहित्यिक उपन्यासों की कोटि में न आने के कारण हमारे क्षेत्र से बाहर है।

३ नैमिषारण्ये पोतानु स्वरूप बदल्यूं। विद्या विनय ने शक्ति अयेना एकीकरणना बळथी प्रचड अस्मिता प्रगटी, ते चणकनो पुत्र विष्णुगुप्त थइ गई। (२७४) (१९५१, आवृत्ति पाचमी)

'अग्निमा' है। कौटिल्य एक महान् ऋषि हैं, उनमें क्रोध, क्रूरता या निष्ठुरता नहीं; प्रत्युत शान्ति, दया तथा प्रचण्डता है। उनका स्वार्थ यदि कोई है तो यही कि शूद्र धननन्द के हाथ से पृथ्वी का आधिपत्य छीन कर क्षत्रिय चन्द्रगुप्त को अर्पित[1] करदें, क्योंकि उनका विश्वास है कि चन्द्रगुप्त का शासन धर्म का होगा[2], उससे लोक का कल्याण और वेद की रक्षा हो सकेगी। आचार्य के स्वर में सर्वभक्षी अग्नि की विनाशक गर्जना का प्रतिशब्द सुनकर[3] चन्द्रगुप्त ने प्रतिज्ञा की कि आपके निकट जो स्वार्थ है वही मेरा धर्म है[4]। चाणक्य संसार में सामान्य व्यक्तियों के समान जीवन बिताने नहीं आये इसलिए उन्होंने विवाह नहीं किया, उनका सकल्प तो धर्म-प्रवर्तन[5] है। अस्तु चाणक्य ऋषि हैं, उन्होंने अपने तेज से नन्द का मूलोच्छेदन किया, चन्द्रगुप्त को मूर्धाभिषिक्त किया और सिकन्दर के विषय में भविष्य वाणी की; वे व्यास तथा उद्दालक की परम्परा में हैं, वे ऋषि हैं—भगवान् हैं; नैमिषारण्य में वे बृहस्पति के अवतार[6] माने जाते थे। इस उपन्यास में न नन्दकुल का नाश है न चन्द्रगुप्त का अभिषेक, न यूनानी आक्रमण है और न मगध की विषम राजनीति; श्री मुनशी ने इन घटनाओं की पृष्ठभूमि अर्थात् कौटिल्य के

---

१. मारो स्वार्थ? हा, छे। ज्यारे पृथ्वीनु आधिपत्य जे आ दुष्ट शूद्र—धननन्दना हाथमां छे, ते लई मारे क्षात्र—क्षत्रियना हाथमां मूकवु छे। (१६१)

२. तात! तने हु राजदंड हाथमां लेतो जोऊं छु त्यारे सर्वधर्मना आश्रयरूप विद्या तने प्रेरती जोऊं छु...महर्षिओना जीवनमन्त्रोने सनातन करतो, अवंति ने आर्यावर्तनी सीमाओ एक करी नाखतो हुं तने जोऊं छु। (१६३)

३. तेना अवाजमां सर्वभक्षी अग्निनी विनाशक गर्जनानो प्रतिशब्द संभळायो। (१६२)

४. आचार्यदेव! तमारो स्वार्थ ते मारो धर्म; हुं तैयार छु। (१६४)

५. ज्यारे धर्मने चारे विद्या प्रेरशे, ज्यारे आर्यावर्त पर धर्म प्रवर्तशे, त्यारेज हे आचार्य! कुटिलनो पौत्र आश्रम मदखशे। (३६)

६. पूजानु स्थान तो गुण, वय नहीं। हुं थोडां वरस पर नैमिषारण्यमां गयो हतो त्यारे में एनी कीर्ति सांभळी हती। त्यां तो ए बृहस्पतिनो अवतार मनाय छे। (७३)

पूर्ण विकास तक का ही चित्र अंकित किया है; इस उपन्यास को एतद्-विषयक अन्य साहित्य की पूर्वपीठिका कहा जा सकता है। इस रचना में चन्द्रगुप्त तो दिखाई पड़ता है और शकटार भी चाणक्य के गुरु-रूप में चित्रित किये गये हैं; शेष सभी मुख्य पात्र प्रायः नवीन हैं। शकटार की पुत्री गौरी उपन्यास की मुख्य नारी है, जो (प्रसाद की सुवासिनी के समान) चाणक्य और राजपुरुष (सेनाजित) के बीच उलझी हुई है; अन्त मे चाणक्य की उच्चता और उदारता उसको राजपुरुष (राक्षस, सेनाजित्) के साथ विवाह का आशीर्वाद दे देती है, सत्त्व और रजस् के प्रति समभाव से आकृष्ट इस मातृहीन किशोरी का मनःसंघर्ष श्रपि चाणक्य की कल्पित जीवनी को आद्योपान्त हृद्य एवं संवेद्य बनाने के साथ-साथ उसके साहित्यिक मूल्य का भी वर्द्धक है।

श्री ए० एस० पञ्चपकेश अय्यर आई० सी० एस० ने अँग्रेजी में 'चाणक्य एण्ड चन्द्रगुप्त' नामक एक उपन्यास लिखा है जिसका आधार अद्यावधि उपलब्ध सभी उल्लेख तथा संकेत हैं। ऋषि-पुत्र (सन ऑफ दि सेजिज) चाणक्य की, किशोरावस्था से लेकर चिर शान्ति-लाभ तक की, कथा का मुख्य उद्देश्य चाणक्य के व्यक्तित्व का प्रभावपूर्ण अंकन ही है; बिन्दुसार के शब्दों में चाणक्य प्रकृति की एक शक्ति थे, ज्वालामुखी या हिम प्रवाह के समान उनका अप्रतिहत व्यक्तित्व भावुकता से शून्य था, बिन्दुसार के अग्रामात्य ने कौटिल्य की निर्द्वन्द्व कार्यनिष्ठा की श्रद्धा पुरस्सर प्रशंसा[1] की है। चाणक्य तामिल ब्राह्मण थे, उनकी पत्नी का नाम गौतमी था, उनके एक सन्तान थी पुत्री, राज-राजेश्वरी जिसका विवाह अग्निशर्मा के साथ हुआ चाणक्य के दौहित्र राधागुप्त कालान्तर में बिंदुसार के अग्रामात्य बने। बौद्ध इतिहास 'आर्य मञ्जुश्री मूलकल्प' में चाणक्य को क्रोध का मूर्त्तिमान् रूप तथा यम का अवतार बतलाकर उसको एक कल्प के लिए नरक में भेज दिया गया है; अय्यर जी ने इस रोषाच्छन्न कल्पना का बहिष्कार किया है, परन्तु उक्त इतिहास के आधार पर चाणक्य का अमात्य जीवन बिन्दुसार के राज्य तक चित्रित किया है—उनका चाणक्य सन्यास नहीं लेता, प्रत्युत

1. ही नेवर केयर्ड व्हेदर हिज़ मादडियार्ज़ वर पौपूलर और अनपौपूलर बट बेंट ओन एक्ज़ीक्यूटिंग दैम बिकाज़ ही वाज़ कनविंस्ड देट दे वर फौर दि कौमन गुड। ही लिव्ड डेंजरसली एण्ड स्टोड दि टू्थ ऐज़ ही सौ इट।

गौतमी के देह-त्याग पर उसका हृदय फूट[1] पड़ता है, भद्रबाहु के शिष्य ने जब संतप्त चाणक्य की निंदा की तो स्वयं चंद्रगुप्त ने नीरोप भाव से उसको समझाया 'तुम ऐसा सोचकर भूल करते हो वह एक सौम्य निस्संग आत्मा है[2]। चाणक्य में रोष भी है तथा स्नेह भी, शत्रुओं के लिए वह मायावी तथा भयानक है परन्तु मित्रों के लिए वह सरल तथा स्नेही है.[3] नन्दकुल के विनाश तथा चंद्रगुप्त के अभिषेक से चाणक्य की दोनों वृत्तियाँ संतुष्ट हो गई',[4] फिर वह अपनी पुस्तक को पूर्ण करने में लग गया। अय्यर जी का चंद्रगुप्त भी प्राचीन उल्लेखों के मन्थन का फल है। सामान्य घर में जन्म लेकर वह चाणक्य के स्नेह का पात्र बना और अपनी निर्भयता, वीरता आदि वृत्तियों के कारण भारत का सम्राट हो सका। सिकन्दर से उसका साक्षात्कार हुआ था और उसके निर्भय वचन से सिकन्दर को ठेस पहुँची थी। पोरस के प्रासाद में बन्दी चंद्रगुप्त को सिंहपुर-नरेश विजयसिंह की दुहिता शान्तावती प्यार करने लगी, वह चन्द्रगुप्त की प्रथम भार्या थी, नंदवंशीय राजकुमारी दुर्धरा से विवाह करके चंद्रगुप्त ने मगध-शासन को दृढ़तर बनाया, बिन्दुसार-जननी दुर्धरा का जैन साहित्य में उल्लेख है, इसका नाम चंद्रकांता भी बताया गया है; प्रसाद जी की कल्याणी इसी संकेत की कल्पना ज्ञात होती है, गौतमी और दुर्धरा घनिष्ठ सखियाँ थीं, चंद्रगुप्त की तीसरी पत्नी कौशाम्बी की राजकुमारी निर्मला थी, जिसको वह सर्वाधिक प्रेम करता था; सेल्यूकस की पुत्री का नाम देवभ्रान्ता (डिओफेन्टीज) है, जीवसिद्धि से उसका वर्णन सुनकर और उसका चित्र देखकर चंद्रगुप्त आकृष्ट हुआ, उसने सेल्यूकस के सामने विवाह का प्रस्ताव रखा, सेल्यूकस ने कहा कि इससे हमारे सम्बन्ध सदा के लिए सुदृढ़ हो जायँगे[5] और सहर्ष प्रस्ताव

१. गौमती, आइ कैन नोट लिव बिहाउट यू।(३१८)
सम थिंग गेव वे इन चाणक्य, एण्ड ही सौब्ड लाइक ए चाइल्ड। (३१६)
२. 'यू आर मिस्टेकिन' सैड चन्द्रगुप्त, 'ही इज ए नोबुल डिसइन्ट्रेस्टेड सोल'। (४०१
३. मीनाक्षी, 'ही इज़ ए मैन आफ़ मिस्ट्री एण्ड टैरर फौर हिज एनीमीज़, बट इज़ दि सोल ऑफ सिम्पिलसिटी एण्ड लव फौर हिज़ फ्रैंड्स। (७)
४. आइ ऍगर हैज बर्न्ट इटसल्फ बाई हिपर डैस्ट्रक्शन, एण्ड माई लव हैज बीन सैटिस्फाइड बाई यौर बोइंग क्राउन्ड। (३८२)
५. 'मोस्ट विलिंग्ली' सैड सैल्यूकस, 'देट विल सीमेन्ट अवर ट्रीटी ऑफ परपैच्युल एलाइन्स एण्ड फ्रैंडशिप'। (१८०)

स्वीकार कर लिया।[1] अंत समय में चंद्रगुप्त ने जैन मत में दीक्षित होकर संन्यास ले लिया, बिंदुसार गद्दी पर बैठा। इस उपन्यास का सुबुद्धिशर्मन या राक्षस निरीह हुआ है,[2] उसका चित्र अविकसित ही रह गया है। लेखक की दो विशेषताएँ हैं। प्रथम, उपलब्ध साहित्य का सुन्दर एवं निष्पक्ष उपयोग, फलतः उसका प्रयत्न ऐतिहासिक अधिक है सांस्कृतिक कम; जयशंकर प्रसाद का उद्देश्य इससे भिन्न है। द्वितीय, चाणक्य (और अतएव चंद्रगुप्त) के जीवन का यथासम्भव पूर्ण चित्र; अतः चंद्रगुप्त का तो विस्तृत विवरण है ही, बिन्दुसार के जीवन के राज्यारोहण तक के चित्र (युवराज-पद, सुभद्रांगी के सफल प्रेम की रोचक कहानी, अशोकवर्द्धन का जन्म आदि) भी उचित मात्रा में अंकित मिलते हैं। श्री अय्यर के चाणक्य को यह विश्वास है कि क्षत्री के बिना ब्राह्मण या ब्राह्मण के बिना क्षत्री अपने लोकमंगल रूप उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता;[3] कदाचित् इसीलिए वह एक योग्य क्षत्री की खोज में था जिसको प्राप्त करके कौटिल्य ने इतिहास में युगान्तर प्रस्तुत कर दिया।

भारतीय तूलिका से चंद्रगुप्त के जितने चित्र बने हैं उन सब में सम्राट को चाणक्य का अनुग ही चित्रित किया गया है, प्रसाद जी ने अपने चंद्रगुप्त में क्षत्रियोचित गुणों की सृष्टि की है यह चन्द्रगुप्त प्रति उसका आदर स्वकीय महत्व के कारण है, हीनत्व जनित नहीं। स्वाभिमानी, वीर, निर्भय, कुशल तथा राष्ट्र-हितैषी है, चाणक्य के

---

१. राक्षस वाज़ ए हैल्पलैस स्पैक्टेटर ... ।(१६२)

२. नैवर वैन ए ब्राह्मण इ. विदाउट ए क्षत्रिय, और ए क्षत्रिय विदाउट ए ब्राह्मण। (२२)

३. यूनानी लेखक स्ट्रैबो (ई०पू० प्रथम शताब्दी) तथा, एप्पन (१२३ ई०) ने सेल्यूकस तथा चन्द्रगुप्त (एन्ड्रोकोटस) के बीच विवाह सम्बन्ध पूर्वक सन्धि का उल्लेख किया है परन्तु यह स्पष्ट नहीं लिखा कि सैल्यूकस सुता मौर्य पत्नी बनी; फलतः जार्ज मैकडोनल्ड ने इस निष्कर्ष को निस्संदिग्ध नहीं माना कि सैल्यूकस या तो चन्द्रगुप्त का श्वसुर बन गया था या जामाता—क्योंकि जातिभेद में कट्टर विश्वास रखनेवाले भारतीय किसी विदेशी जाति से विवाह-सम्बन्ध नहीं कर सकते (इन दैट लैन्ड आफ कास्ट ए 'जस कनुबाइ' विदाउट दि ह्यू पीपुल्स इज़ अनथिंकेबिल) (पृष्ठ ४३१)

(ई०जे० रैप्सन द्वारा सम्पादित दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग १; में अध्याय १७, लेखक जार्ज मैकडानल्ड) (१९२२ का संस्करण)

परंतु राष्ट्र हित का चिंतन ब्राह्मण ही कर सकता है, क्षत्री नहीं, ब्राह्मण विवेक है, क्षत्री शक्ति; विवेक हीन शक्ति कल्याण नहीं कर सकती; अतः चाणक्य की अवतारणा ही चंद्रगुप्त को कुछ फीका कर देती है। सत्य तो यह है कि मानसिक बल (विवेक = ब्राह्मणत्व) तथा शारीरिक बल (शक्ति = क्षत्रियत्व) का मणि-कांचन सयोग ही राष्ट्र का स्वास्थ्य है, यही ऐहिक तथा पारलौकिक सुख की कुञ्जी है। चाणक्य को कूटनीतिज्ञ दृढ़, कठोर तथा प्रतिभाशाली चित्रित किया गया है, उसमें ब्राह्मण के सभी गुण हैं और विशेषता यह है कि उन गुणों का उपयोग चाणक्य के द्वारा राजनीति में हुआ है। अर्थशास्त्र में कारण दो प्रकार के हैं—अपौरुषेय तथा पौरुषेय, जिसकी सम्भावना नहीं वही अपौरुषेय है, नष्टप्राय की प्राप्ति[1] भाग्य है; सम्भाव्य कारण पौरुषेय है। चाणक्य का अदृष्ट में इतना ही विश्वास है कि कभी-कभी 'सयोगवश' असम्भाव्य कारणों से भी इष्ट की प्राप्ति हो जाती है वह भाग्य का शत्रु नहीं है परंतु भाग्य को स्वायत्त करके[2] उससे अपना काम निकालने में विश्वासी है, अत वह मूर्ख के समान किंकर्तव्य विमूढ़[3] बनकर अदृष्ट तथा नक्षत्र की जिज्ञासा में अवसर को खो नहीं देता —

नक्षत्रमतिपृच्छन्त बालमर्थोऽतिवर्तते ।
अर्थोऽप्यर्थस्य नक्षत्रं, किं करिष्यति तारकं ॥

उसका दृढ़ विश्वास है कि "वही होकर रहेगा जिसे चाणक्य ने विचार करके ठीक कर लिया है" (प्रसाद पृ० १८४) "किंतु अवसर पर एक क्षण का विलम्ब असफलता का प्रवर्त्तक हो जाता है" क्योंकि

---

१. कौजेज, बोथ ह्यूमन एन्ड प्रोविडेन्शियल, गवर्न दि वर्ल्ड एन्ड इट्स अफेयर्स। व्हाट इज अनसीन इज प्रोविडेन्शियल, हियर, दि अटेनमेंट ऑफ दैट डिज़ाइर इएड व्हिच सीम्ड आलमोस्ट लौस्टइज़ (टर्म्ड) फोरच्यून। व्हाट इज एटीसिपेटेड इज ह्यूमन, एन्ड दि अटनमेंट ऑफ ए डिजाइर इन्ड एज एंटीसिपेटेड इज (ड्यू टु पौलिसी)। (डा० आर शामशास्त्री' कौटिल्यस अर्थशास्त्र, थर्ड एडीशन, १९२९, पृ० ३८६)

२ ए वाइज मैन वेटस ओन इवेंट्स एन्ड टर्न्स दैम टु हिज प्रोफिट। ही नेवर चेलेंजेज फेट। (अय्यर, ११२)

३. दैवमविद्वास प्रमाणयन्ति। (विशाखदत्त, १८०)
ओनली फूल्स विलीव इन फेट। (अय्यर, २१६)

"सफलता का बक ही क्षण होता है, आवेश में और कर्तव्य में बहुत अन्तर है' (वही पृ० १६४)। अवसर की पहचान और उसका कठोर उपयोग ही चाणक्य की सफलता के आधार हैं। अपने गुरुत्व—पूर्ण कर्तव्य के लिये चाणक्य ने सर्व प्रथम अपने व्यक्तित्व का विकास किया, फिर निष्ठा-पूर्वक वह उस महान कार्य में जुट गया। कौटिल्य का व्यक्तित्व इतना महान् है कि वह सामान्य से बहुत ऊँचा दिखाई पड़ता है। संसार कौटिल्य को एक प्राकृतिक शक्ति मानता[1] है, एक असाधारण ऋषि, जिससे भय भी होता है और विस्मय भी।

---

1. दि वर्ल्ड हैज कम टु रिगार्ड चाणक्य एज ए फोर्स ऑफ नेचर, अन-अफैक्टेड बाइ सेंटीमेंट, समथिंग लाइक ऐन अर्थक्वेक और ऐवलान्श। ही वाज़ नॉट ए मैन बट ए फिनोमिनन। (अय्यर पृ० ४६३)

"अन्य निबन्ध"

साधर्म्य अथवा उपमा

कालिदास की अप्रस्तुत-योजना पर मुग्ध होकर जब सहृदयों ने 'उपमा कालिदासस्य' कहा था तब उनकी दृष्टि में उपमामूलक सभी अलंकारों की मनोरम छटा थी। चंदबरदाई ने 'पृथ्वीराजरासो' के अनेक स्थलों पर साम्य-योजना को, उपमा अलंकार के न रहने पर भी[1], उपमा ही नाम दिया है। सूर तथा तुलसी में भी[2] उपमा शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में मिलता है। दैनिक व्यवहार में किसी द्रव्य, गुण या क्रिया का प्रभावपूर्ण वर्णन करते हुए हम उसकी किसी सुपरिचित वस्तु से समानता बतलाना नहीं भूलते। तात्पर्य यह है कि दो वस्तुओं में सादृश्य बतलाने से हम अपने हृदय के भाव को ठीक-ठीक प्रकट कर सकते हैं और यह विश्वास रखते हैं कि ऐसा करने से दूसरे व्यक्ति के हृदय पर यथार्थ चित्र अंकित हो सकेगा। व्यवहार में सादृश्यमात्र[3] को 'उपमा' कहा जाता है, प्रारम्भिक आचार्यों तथा अनेक कवियों ने इस शब्द का प्रयोग इसी व्यापक[4] अर्थ में किया है। इसीलिए राजशेखर

---

१ उप्पमा चंद जपै सु अच्छ। (पृ० १०२१) सो कवि इह उप्पम कही।
(पृ० १०३७ (पृ० १२६६) आदि। III दिखि सेन तिन उपमा सु करी।

२. दूध दंत दुति कहि न जाति कछु अद्भुत उपमा पाई।
किलकत-हँसत दुरनि प्रगटति मनु घन में बिज्जु छुराई॥
(दशमस्कन्ध, ७२६)

मानौ सुक्र भौम सनि गुरु मिलि ससि कैं बीच रसाल री।
उपमा बरनि न जाइ सखी री सुन्दर मदनगोपाल री। (वही, ७४८)
उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पट पीत ओढ़ाए।
नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनों तड़ित छुपाए।
(गीतावली, २३)

३. उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयो। (चन्द्रालोक, V, ३)

४. उपमा यदतत्तत् सदृशमिति.... (निरुक्त, III, १३)

ने अलकारों की मुकुटमणि, काव्यश्री का सर्वस्व तथा कवियों की माता कह कर उपमा की स्तुति की है —

अलकारशिरोरत्न सर्वस्व काव्यसपदाम्।
उपमा कविवशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥

आचार्यों ने जिन अर्थालकारों की चर्चा की है उनकी सख्या तो एक नहीं है, परन्तु इस बात मे सब एकमत हैं कि उपमा को उस योजना मे प्रथम स्थान मिलना चाहिए। आचार्य भरत ने[1] काव्य के चार ही अलकार बतलाये हैं—तीन अर्थालकार तथा एक शब्दालकार, और उपमा की प्रथम विवेचना ही नहीं की, इसका क्षेत्र इतना व्यापक माना है कि शेष अधिकाश अलकार इसी क्षेत्र के भीतर आ जाते हैं। नाट्यशास्त्र मे समान गुणाकृति[2] के आधार पर सादृश्यमात्र ही उपमा है; 'आकृति' का अभिप्राय तो स्पष्ट है, परन्तु 'गुण' मे क्रिया आदि सारे व्यापार भी आ जायँगे—वस्तुत 'आकृति' का अभिप्राय 'स्थूल सादृश्य' है, तथा 'गुण' का 'सूक्ष्म सादृश्य'। आगे चल कर 'औपम्य गुणाश्रयम्'[3] को ही उपमा मान लिया गया है जिस से यह स्पष्ट है कि सादृश्य के आधार मात्र को 'गुण' कहा जा सकता है—भले ही वह रूपाकृति हो, गुण हो या क्रिया-व्यापार हो। भरत ने उपमा के लिए एक वाक्य का होना आवश्यक नहीं माना।

आचार्य भामह ने अलकारों की सख्या अधिक कर दी—कदाचित् भरत तथा भामह के बीच के आचार्यों ने अनुप्रास को एक स्वतन्त्र अलकार मान लिया था[4]—और मुख्य के क्रम को उलट दिया[5] जो इस बात का सूचक है कि पहले आने वाले अलकार सरल और पीछे आने वाले उलझे हुए हैं। भामह ने उपमा के लक्षण मे इस बात पर जोर दिया

---

१. उपमा दीपक चैव रूपक यमकं तथा। (नाट्यशास्त्र, १६, ४३)

२ यत्किचित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥ (वही, वही, ४४)

३. नाट्यशास्त्र, १६ अध्याय, ४७।

४ इति वाचामलङ्कारा पञ्चैवान्यैरुदाहृता। (काव्यालकार, २, ४)

५. अनुप्रास सयमको रूपक दीपकोपमे। (वही, वही, वही)

कि साम्य में चमत्कार[1] होना चाहिए, जो कुछ वस्तुतः समान हैं उसको उपमान बनाने में कोई सौन्दर्य नहीं, उपमान में साम्य कम हो, विरोध अधिक—

> विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः ।
> उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेनसोपमा ॥ २/३०

उपमा में साम्य गुणलेश से ही होता है, परन्तु रूपक में गुणों की इतनी समता होनी है कि उपमेय पर उपमान का आरोप हो सकता है। ध्यान रखना होगा कि रूपक में रूप या आकृति पर ध्यान उतना नहीं दिया गया जितना कि गुणों पर।[2] उपमा में यह बात उलटी थी—*गुणसादृश्य था अवश्य, परन्तु लेशमात्र ही*। और उत्प्रेक्षा ? इस में गुणसादृश्य हो सकता है, परन्तु चमत्कार क्रियासाम्य[3] में है। इस प्रकार भामह के मत में उपमा अलंकार वहाँ है जहाँ किसी वस्तु का उस से भिन्न वस्तु से गुणलेश[4] को लेकर सादृश्य बतलाया जाय, रूपक वहां है जहां गुणसाम्य से आरोप हो सके—और उत्प्रेक्षा अलंकार वहां *माना जायगा जहां विशेष गुणसाम्य न भी हो*[5], परन्तु क्रियायोग हो।

काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में उपमा का क्षेत्र फिर अनिश्चित कर दिया और यथाकथंचित्[6] उद्भूत सादृश्यमात्र को कसौटी मान लिया

---

१ तुलना कीजिए—चमत्कारिसादृश्यमुपमा। (वाग्भट्ट, काव्यानुशासनम् तृतीयोऽध्याय)

२ गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः । २।२१। (भामह)

३ अविवक्षितसामान्या किञ्चिच्चोपमया सह ।
अतद्गुणक्रियायोगाद् उत्प्रेक्षातिशयान्विता । (वही, २,६१)

४ तुलना कीजिए-उपमानोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा। ।४।२।१। (वामन)

५ तुलना कीजिए—अन्यतमादस्याद्सतोऽपि धर्मस्य कल्पनमुत्प्रेक्षा। (वाग्भट्ट)

६ यथाकथंचित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते ।
उपमा नाम सा तस्याः प्रपञ्चोऽयं प्रदर्श्यते ॥२।१४।

जिस के अन्तर्गत गुण, क्रिया तथा द्रव्य सभी का सादृश्य आ जाता है। इस प्रकार उपमा के अनेक भेद आ गए, जिनमें से कुछ को तो पीछे स्वतन्त्र अलंकारत्व प्राप्त हो गया और उनके साथ से 'उपमा' नाम हटगया जैसे—सहोपमा, अतिशयोपमा, विरोधोपमा, आदि और कुछ स्वतन्त्र बन कर भी उपमा नाम को अपने साथ लगाये रहे, जैसे मालोपमा, उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा। 'उपमा का प्रपंच' इतना व्यापक है कि सादृश्यगर्भ के सभी अलंकार इसी में समा जाते हैं। दंडी ने इसीलिये एक लम्बी-चौड़ी सूची 'सादृश्यसूचक' शब्दों की दे दी है (काव्यादर्श, द्वितीय परिच्छेद, संख्या ५७ से ६५ तक)।

उद्भट, वामन, रुद्रट—सभी आचार्यों ने किसी-न किसी रूप से भामह तथा दंडी के साथ ही मतैक्य प्रकट किया है। उद्भट ने 'यच्चेतोहारिसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः' को उपमा बतलाया है। रुद्रट ने पहले औपम्य का लक्षण दिया है फिर औपम्य के अनेक भेदों का। औपम्य के लक्षण[1] में ध्यान देने की एक बात यह है कि कर्त्ताकारक में 'वक्ता' शब्द का प्रयोग कर के आचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि औपम्य में वक्ता की प्रवृत्ति की छाया मिलती है। वह अपनी रुचि के अनुकूल अप्रस्तुत तो लावेगा ही प्रस्तुत और अप्रस्तुत में वह अपने स्वभाव के अनुकूल ही गुणविशेष पर ध्यान देगा। रमणी के नेत्र एक व्यक्ति के लिए कमल हैं, दूसरे के लिए मीन, तीसरे के लिए खंजन और चौथे के लिए विषैले तीर—क्यों? प्रवृत्तिभेद के ही कारण तो। रुद्रट ने उपमा अलंकार का लक्षण 'उभयोः समानैक गुणादिसिद्ध भवेदथैकत्र' कह कर भामह के समान 'गुणलेश' का ही समर्थन किया है, और भामह के ही समान रूपक के मूल में गुणों का साम्य[2] आवश्यक माना है तथा उत्प्रेक्षा से रूपक को भामह की शब्दावली[3] से ही अलग किया है। सारांश यह है कि मम्मट से पूर्व उपमा का क्षेत्र प्रायः द्रव्यसाम्य था जिस के मूल में गुणलेश की स्थिति रहती थी, रूपक का आधार गुणसाम्य था,

---

१. सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति ।
   वस्त्वन्तरमभिदध्याद् वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम् ॥ ८।१॥

२. यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदा ॥८।३८॥

३. अविवक्षितसामान्या किंचिच्चोपमया सह (भामह)
   अविवक्षितसामान्या कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम् । (रुद्रट)

और उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य क्रियासाम्य में समझा जाता था—औपम्य वहीं माना जाता था जहाँ चमत्कारी साम्य हो। उपमा में स्थूलता अधिक होती है और रूपक में स्थूलता को भुला कर आरोप ही कर दिया जाता है, परन्तु उत्प्रेक्षा में क्रियासाम्य के कारण स्थूलता का संकेत भर रहता है—दग्धा विभावसु किंशुक के व्यपदेश से वृक्ष पर चढ़ कर, अदग्ध वन को देख रही है[1]। इसीलिए केशवमिश्र ने उत्प्रेक्षा के चमत्कार को मधु से मधुर मान कर इस को 'सर्वालंकारसर्वस्व'[2] कहा है।

आचार्य मम्मट दूसरे पूर्ववर्त्ती आचार्यों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है। आपने काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में जो अलंकार विवेचन किया है उस में पूर्वापर संबंध की अपेक्षा रहती है। इसलिए पूर्व में आने वाले अलंकार का लक्षण व्यापकतम दिया है। फिर उत्तरोत्तर क्षेत्र को संकुचित बना दिया जाता है। उपमा अर्थालंकारों का आदि अलंकार है। इसलिए इस का व्यापक-से-व्यापक लक्षण दे दिया—'भेद के रहने पर भी साधर्म्य'[3] उपमा है। यहाँ 'भेद' तथा 'साधर्म्य' शब्दों की व्याख्या करनी ही होगी, यह भी बतलाना होगा कि यह साधर्म्य व्यंग्य भी हो सकता है या नहीं। फिर भी सादृश्यगर्भ के अधिकतर अलंकार इसके अंतर्गत आ जायँगे। रूपक भी भिन्न दिखलाई पड़ने वाली वस्तुओं में साधर्म्य बतलाता है। हाँ, उपमा से अलग करने वाला एक गुण है उपमेयोपमान का अभेद।[4] रूपक के लक्षण में इसी व्यवच्छेदक गुण पर जोर दिया गया है। उत्प्रेक्षा में भी भिन्न दिखलाई पड़ने वाली वस्तुओं में साधर्म्य होता है, परन्तु यहाँ व्यवच्छेदक गुण है 'संभावना'। मम्मट के उत्प्रेक्षा के लक्षण[5] में इसी व्यवच्छेदक गुण का आग्रह है। दूसरे अलंकारों का लक्षण देते हुए उपमा के उक्त लक्षण से 'साधर्म्यम्' तथा 'भेदे' शब्दों की अनुवृत्ति

---

१. किंशुकव्यपदेशेन तरुमारुह्य सर्वतः।
दग्धाऽदग्धमरण्यान्या पश्यतीव विभावसु ॥ २।९२। (भामह)

२. सर्वालङ्कारसर्वस्वं कविकीर्तिविवर्द्धिनी।
उत्प्रेक्षा हरति स्वान्तमचिरोढा—स्मितादिव ॥ (अलकार शेखर)

३. साधर्म्यमुपमा भेदे। (काव्यप्रकाश)

४. तद्रूपकमभेदाय उपमानोपमेययोः। (वही)

५. सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। (काव्यप्रकाश)

सर्वत्र सभावित करली है। उदाहरण के लिये सादृश्यगर्भ के किसी भी अलकार को उठाया जा सकता है—ससदेह, अपह्नति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टात आदि।

उपमा के लक्षण को समझ लिया जाय। 'साधर्म्यमुपमा भेदे'—भिन्न भिन्न दिखलाई पडने वाली (असजातीय) वस्तुओं मे साधर्म्य ही उपमा है। पहली बात है कि उपमेय तथा उपमान एक ही जाति के न हों, 'नितबिनी नितबिनी के समान है' (नागेश्वरी टीका)—इस वाक्य में उपमा अलकार नहीं है, भामह ने इसी लिए 'विरुद्ध उपमान से गुणलेश के आधार पर साम्य' उपमा का लक्षण माना था। दडी ने इस सादृश्य को वास्तविक न कह कर 'उद्भूत' नाम दिया है। उद्भट के 'चेतोहारि' शब्द से यही व्यञ्जना है और रुद्रट ने तो स्पष्ट ही 'वस्त्वन्तरम्' कह दिया है। यदि सादृश्य मे चमत्कार नहीं है तो वहाँ भी उपमा नहीं मानी जा सकती। वाग्भट्ट ने[1] 'मुख कुकुम्भ के समान है'—इस वाक्य मे उपमा न मान कर चमत्कार को धर्म सौंदर्योत्पत्ति बतलाया है। दूसरे[2] लोगों ने नैयायिकों के उपमान को अलकारत्व का निषेध करते हुए कवि प्रतिमा[3] मे चमत्कार माना है। दूसरी बात है 'साधर्म्य'। भरत ने 'गुणाकृति' पद का प्रयोग करके यह सकेत दिया था कि स्थूल सादृश्य को 'आकृति' तथा सूक्ष्म सादृश्य को 'गुण' कहा जा सकता है—यद्यपि आगे चल कर 'गुण' मे 'आकृति' को भी सम्मिलित कर लिया है (पीछे देखिये)। भामह ने 'गुण' शब्द का का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ मे किया है। वाग्भट्ट ने इसी गुण को 'धर्म' कहा है, परन्तु रुद्रट में 'गुण' शब्द का ही प्रयोग है। ऐसा ज्ञान पडता है कि मम्मट के समय तक 'गुण' तथा 'धर्म' शब्द का प्रयोग समान अर्थ में होने लग गया था, और इसमे 'सादृश्य का आधार मात्र' समा सकता था। आगे चल कर 'साधर्म्य' तथा 'सादृश्य' शब्दों

१—चमत्कारीति वचनात् 'कुकुम्भ इव मुखम्' इत्यादौ सादृश्येपूपमा न कार्या। (काव्यानुशासनम्, तृतीयोऽध्याय)

२—चमत्काराजनक सादृश्यं नोपमालकारः। यथा गौरिव गवय। (काव्यादर्श, टीका, 'भांडारकर' प्रकाशन)

३—तुलना कीजिये भ्रांतिमान् के इस लक्षण से—साम्यात् अतस्मिन् तद् बुद्धि भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थिता। (सा० दर्पण)

का प्रयोग एक ही अर्थ मे हुआ है। अस्तु 'साधर्म्य' 'सादृश्य' का ही पर्यायवाची है और इसके अतर्गत नैयायिकों के द्रव्य, गुण तथा क्रिया [1] तीनों ही आ जाते हैं—जहाँ गुण' शब्द का प्रयोग काव्य शास्त्रियों ने किया है वहाँ इसी व्यापक अर्थ में समझना चाहिये।

चद्रालोक आदि के लक्षण मे कोई विशेषता नहीं है परन्तु साहित्यदर्पणकार ने उपमा के लक्षण मे बडी रुचि दिखलाई है। ध्यान देना होगा कि रूपक, उत्प्रेक्षा आदि के लक्षणों मे विश्वनाथ का मम्मट से अधिक भेद नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि मम्मट ने उपमा अलकार का लक्षण न दे कर औपम्यमात्र का लक्षण दिया है, परन्तु विश्वनाथ अन्वय-व्यतिरेक का पूरा ध्यान रख कर उपमा अलकार का ही रूप निश्चित कर रहे हैं— 'साम्य वाच्यम् अवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयो '। उपमा अलकार मे दोनों (उपमेय और उपमान) का साम्य (साधर्म्य) वाच्य (व्यग्य नहीं) होना है। दो शब्द और हैं—'अवैधर्म्य' तथा 'वाक्यैक्य'। 'अवैधर्म्य साम्य' का दूसरा नाम 'साधर्म्य' है। उपमा मे सादृश्य का तो 'गुणलेश' है, 'विरोध' ही अधिक रहता है। मुख और चद्र मे सभी प्रकार का 'विरोध' है साम्य केवल एक ही है कि दोनों नयनानन्दकारक हैं। कवि को उपमा के लिए केवल इतने से अश का ही कथन करना चाहिए। विरोध पर वह चुपचाप परदा डालता चले। 'वाक्यैक्य' की व्याख्या विश्वनाथ ने इन शब्दों द्वारा की है—'उपमेयोपमाया वाक्यद्वयम् इत्यस्या भेद '। उपमेयोपमा कोई बड़ा अलकार नहीं है फिर भी उस से व्यवच्छेदक पद को उपमा के लक्षण मे इतना स्थान मिला—यह आश्चर्य की बात है। तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टात आदि ऐसे अलकार हैं जो औपम्यमूलक तो हैं, परन्तु उनका निर्वाह एक वाक्य मे नहीं हो सकता—क्या 'वाक्यैक्य' से हम यह सकेत नहीं ले सकते ?

अस्तु, उपमा अलकार का सारभूत लक्षण वही हुआ जिस को भरत भामह, वामन तथा मम्मट ने अपनी अपनी शब्दावली में दिया है—दो भिन्न वस्तुओं मे, विरोध पर ध्यान न दे कर, यत्किंचित् साम्य बतलाना। 'साधर्म्य' को उपमा का ही पर्यायवाची कहा जा सकता है।

---

[1] तुल्ययोगिता के लक्षण से 'एकधर्माभिसम्बन्ध' की व्याख्या विश्वनाथ ने 'क्रियाभिसम्बन्ध' 'गुणसम्बन्ध' आदि पदों द्वारा, उदाहरणों में घटाते हुए, की है।

जहाँ साधर्म्य है वहाँ उपमा है और जहाँ उपमा है वहाँ साधर्म्य भी होगा—यह साधर्म्य का व्यापक क्षेत्र है। इस में सभी प्रकार के 'साम्य' समा जाते हैं। हाँ उपमा में दो वाक्यों का साम्य नहीं आ सकता। 'वस्तुओं' का अर्थ स्थूल दृश्यमान द्रव्य' लेना ही अधिक समीचीन है। तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त आदि में दो वाक्यों का साम्य दिखलाई पड़ता है। साधर्म्य-सूचक शब्दों की संख्या अनन्त है। इसमें प्रत्येक पद सोच कर स्वयं निर्धारित करना होगा। उपमा औपम्यमूलक अलंकारों का पुराण पुरुष है। इस लिए ज्यों ज्यों काव्यशास्त्र का विकास होता गया त्यों त्यों उपमा ने अपने परिवार के विकसित अलंकारों को स्वतन्त्र रह कर जीवन बिताने की आज्ञा दे दी। आज उपमा का शासन वहीं माना जायगा जहाँ किसी दूसरे अलंकार का दखल नहीं है।

भामह ने कहा था कि रूपक में गुणसाम्य तथा उपेक्षा में क्रिया साम्य पर ध्यान जाता है। इसलिए उपमा अलंकार वस्तुसाम्य में माना जाय तो अच्छा है। उपमा में हमारा ध्यान सर्वप्रथम उन वस्तुओं की ओर जाता है जो स्थूल हैं 'मुखचंद्र के समान है' कहते ही हमारे नेत्रों के सामने नयनानन्दकारक, गोलाकृति, आनपहर तथा द्रव्यप्राय चन्द्र तथा मुख के चित्र एक साथ आते हैं। अब सूक्ष्मता की ओर चलिए। 'उसकी मुस्कान ज्योत्सना के समान है' यहाँ मुसकान के चित्र के लिए मुख का चित्र पहले देखना पड़ेगा और ज्योत्सना के लिए चन्द्र से परिचय आवश्यक है। अब इस उपमा की सफलता इस बात पर निर्भर है कि सूक्ष्म साम्य की आश्रयभूत वस्तुएं (चन्द्र तथा मुख) भी पाठक के मन में वही भावना (आनन्द सौंदर्य आदि) जगाएं जो सूक्ष्मसाम्य (ज्योत्सना तथा मुसकान) जगाना चाहते हैं। उपमा में वस्तु के स्थूल रूप तक जाना ही पड़ेगा। तुलसी ने कामना की थी —

> कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
> त्यों रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

यहां साम्य का आधार है 'प्रिय लगना' क्रिया, किन्तु जब प्रस्तुत और अप्रस्तुत के चित्र बनते हैं तब वे व्यक्ति सामने आते हैं जिन में क्रियाओं का निवास है और दुर्भाग्य से इन व्यक्तियों का विरोध इतना प्रसिद्ध है कि साम्य की ओर ध्यान नहीं जाता— कहां भक्त और कहां कामी लोभी ? यह दशा संस्कारों के कारण है। कामी का हमारे समाने

एक विशेष रूप है, लोभी हमारी एक विशेष भावना का अधिकारी है। ऐसे स्थलों पर[1] साधर्म्य सूक्ष्म होता है। अत. संस्कारों के कारण विरोधी गुणों पर ध्यान जाते ही साधर्म्य खटकता है। कवि भी इस बात को जानता था, परंतु जिस प्रकार कवि का अपना व्यक्तित्व काव्य मे सर्वत्र रहता है उसी प्रकार पाठक का व्यक्तित्व भी कभी-कभी उस के ध्यान मे है। कामी या लोभी जब इस दोहे को सुनेगा तब उस के मन में यह भाव आवेगा कि वह भक्ति से नितांत दूर नहीं है, वह अपने स्वभाव से लाभ उठा कर आदर्श भक्त बन सकता है, जो कामी नहीं है उसे भक्त बनने के लिए कामी नहीं बनना, प्रत्युत जो पहले से ही कामी है उस के लिए भक्ति का द्वार खुल गया।

---

1. तुलना कीजिए— सेवत लखन सिया रघुबीरहि।
जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहि॥

तमिल-वेद

तमिल भाषा के दो श्रेष्ठ ग्रन्थ तिरुवल्लुवर का तिरुक्कुराल तथा कम्बन की रामायण हैं। राम की कथा तो उत्तर भारत में भी प्रान्तीय भाषाओं की श्रेष्ठ रचना का आधार रही है, परन्तु कुराल (या तिरुक्कुराल) तमिल भाषा की ही विशेषता है। जिस प्रकार 'भागवत' को 'श्रीमद्भागवत' तथा 'गुरुग्रन्थ' को 'गुरुग्रन्थ साहब' श्रद्धापूर्वक कहा जाता है, उसी प्रकार दक्षिण भारत में 'कुराल' को 'तिरुक्कुराल' कहते हैं।

कुराल १३३० छोटे-छोटे (दोहे के समान) छन्दों की रचना है, जिसमें १३३ अध्याय हैं। यद्यपि 'कुराल' इस छन्द का नाम है, फिर भी वल्लुवर के ही 'कुराल' इतने प्रसिद्ध हैं कि 'कुराल' नाम से सामान्यत इन्हीं की रचना का बोध होता है, जिस प्रकार कि 'रामायण' कहने से हिन्दी में तुलसी की रामायण (रामचरितमानस) तथा 'सतसई' कहने से बिहारी की सतसई ही सामान्यत समझ ली जाती है।

कुराल का एक अधिक प्रचलित नाम 'मुप्पल' भी है, जिसका शब्दार्थ है 'तीन'; भारतीय जीवन के चार पुरुषार्थों में से कुराल में प्रथम तीन का ही वर्णन है। इस प्रकार कुराल को तीन भागों में विभक्त किया जाता है—प्रथम भाग में 'अरम' (धर्म), द्वितीय में 'पोरल' (अर्थ), और तृतीय भाग में 'इनबम' (काम) सम्बन्धी कुराल हैं।

अन्य धार्मिक ग्रन्थों के समान कुराल के काल पर भी विद्वान् एकमत नहीं हैं। तमिल भाषा अन्य सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं से पुरानी है, इससे इतना तो निश्चय है कि वल्लुवर कबीर से कम से कम एक सहस्र वर्ष पूर्व अवतरित हुए थे, परन्तु उनका ठीक संवत् नहीं मिलता। यूरोपीय विद्वान जी० यू० पोप ने कुराल में कतिपय ईसाई सिद्धान्तों की समानता देखकर इसका रचनाकाल आठ सौ से दस सौ ईस्वी सन् के बीच माना था, जो बिलकुल गलत अनुमान पर आश्रित है।

के० एन० शिवराज पिल्ले ने ईसा की प्रथम शताब्दी, वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितर ने ईसा से पूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दी, और टी० एस० कन्दसामी मुदलियार ने ईसा से पूर्व तृतीय शताब्दी कुराल का रचना-काल माना है। सामान्यतः *तिरुवल्लुवर का समय ईसा से कुछ पूर्व ही माना जाता है।*

कुराल के रचयिता वल्लुवर या तिरुवल्लुवर (= श्री वल्लुवर) थे, कुराल इनके वास्तविक जीवन का ही शब्दचित्र है—*कुराल के सम्पूर्ण उपदेश वल्लुवर के जीवन में प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं।* इनके जीवन की कहानी जनश्रुतियों तथा किंवदन्तियों से इतनी आक्रान्त है कि ठोस यथार्थ का निर्णय कठिन ही है। तिरुवल्लुवर का वास्तविक नाम क्या था, यह ज्ञात नहीं; 'वल्लुवर' इनकी अत्यन्त नीच जाति का नाम है, प्रारम्भ में लोग इनको इनकी जाति से ही (अवहेलना के लिए) पुकारने लगे होंगे फिर आदरसूचक शब्द 'तिरु' जोड़कर इनको 'तिरुवल्लुवर' कहा जाने लगा।

वल्लुवर का जन्म मदुरा में हुआ था। इनकी माता 'आदि' अछूत जाति की थीं, परन्तु उनका पालन-पोषण एक ब्राह्मण ने किया था, और इसीलिए उनका विवाह भी 'भगवन्' नाम के ब्राह्मण के साथ होगया। दम्पति को सात सन्तान प्राप्त हुई और सातों ने ही तामिल भाषा में कविता की है। वल्लुवर सबसे छोटे थे। कुछ विद्वान इनका स्थान मद्रास नगर के समीप मयिलापुर (मयिल=मोर, पुर=नगर) को मानते हैं।

आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व तमिल प्रदेश में एक शूद्रा 'आदि' का विवाह एक विद्वान तथा धर्मात्मा 'भगवन्' के साथ हुआ—यह बात समझ में नहीं आती। फिर पुत्र पिता की जाति पर प्रसिद्ध न होकर माता की जाति पर वल्लुवर' कहलाया—यह एक दूसरी ही उलझन है। क्या यह सम्भव नहीं कि ब्राह्मण द्वारा पालिता अनाथा 'आदि' को, विवाह संस्कार के बिना ही, धर्मात्मा 'भगवन्' ब्राह्मण के सम्पर्क से एक प्रतिभाशाली पुत्र प्राप्त हुआ हो? जनश्रुति है कि माता ने पुत्र को ईश्वरार्पित करके मयलापुर में छोड़ दिया था। कबीर के जीवन की भी तो यही कहानी है। रही वल्लुवर के ६ भाई-बहनों की बात (विवाह के बिना एक सन्तान तो संभव है, मान नहीं), उसका दूसरा अर्थ लिया जा सकता है—वे वल्लुवर के सहोदर न भी हों तो भी भाई-बहिन कहला सकते हैं।

नीरिन रमया तुलकेनिन यारयारक्कुम । ❀

थानिन रमया तुइक्कु ॥

धर्म के विषय में वल्लुवर बड़े उदार हैं, 'धर्म का समस्त सार एक ही उपदेश में समाया हुआ है कि अपना मन पवित्र रखो, शेष सारी बातें वाग्जाल मात्र हैं' —

मनत्त कण मासिल नातल अनैत्तरा ।

नाकुल नीर पिरा ॥

धर्म में गृहस्थ धर्म का बड़ा महत्व है, 'जो गृहस्थ दूसरों को व्रतपालन में सहायता देता है और स्वयं पवित्र जीवन व्यतीत करता है वह व्रत तथा उपासना करने वाले अनेक सन्यासियों से बढ़कर तपस्वी है'। धर्मखण्ड में दो बातों पर हमारा ध्यान जाता है। प्रथम तो यह कि वल्लुवर का धर्म से अभिप्राय 'व्यापक धर्म' का है इसलिए उन्होंने धर्म का सम्बन्ध मुख्यतः गृहस्थ जीवन से माना है और पत्नी, संतति, सदाचार आदि के अमूल्य उपदेश दिये हैं। दूसरी बात यह है कि वल्लुवर का आदर्श आर्य आदर्श है, द्राविड भाषा का सर्वोत्तम ग्रन्थ होने पर भी कुराल आर्य-आदर्शों का स्वच्छ प्रतिबिम्ब है। ब्रह्म का स्वरूप, ब्रह्म के अनन्तर मेघ (या इन्द्र) की स्तुति तथा समाज का आधार गृहस्थ जीवन तो वैदिक विचारधारा को प्रकट करते ही हैं, साथ ही आतिथ्य, कृतज्ञता, संयम, इन्द्रियनिग्रह, दान, त्याग, तप, अहिंसा आदि आर्यगुणों की चर्चा भी उनपर आर्यसंस्कृति की छाप को स्पष्ट करती है। धर्मखण्ड से कुछ उपदेश देखिए —

(१) इन्सुल इनिधि इन्नरल काण्पा निबन्को ।

वन्सुल वड गवतु ॥

श्रुति प्रिय शब्दों में जो मधुरता है उसका अनुभव कर लेने पर भी मनुष्य क्रूर शब्दों का व्यवहार क्यों नहीं छोड़ता ?

(२) थाबिक्कन्व चैवाक्कुं थाबिन्म् पेपि ।

पिरत्तुन तमपोट् चैडन ॥

जो व्यक्ति दूसरों के कामों की अपने विशेष कार्यों के समान देख भाल करता है उसके काम काज में अवश्य उन्नति होगी।

❀ तमिल के उद्धरण मैंने दूसरों की सहायता से लिखे हैं।

(३) तीयिनाल चुट्टपुन उल्लारुम आराद्दे ।*
नाविनाल चुट्टवडु ।

अग्नि से जला हुआ घाव समय पाकर भर जाता है परन्तु वाणी का घाव सदा ही पीड़ा देता रहता है ।

(४) परिन्तोमपिक काक्क वडुक्कन् तिरिन तोमिपित ।
तेरिनुम अ त तुणै ।

अपने आचरण की सदा दख-रेख रखो, क्योंकि तुम जहां चाहो चले जाओ सदाचार से पक्का मित्र तुम को मिल नहीं सकता ।

(५) अव्वित तडुक्का रुट्टैयानैच्च चेय्यवा ।
टव्वैयैक काट्टिविडुम ॥

लक्ष्मी ईर्ष्या करने वाले के पास रह नहीं सकती, वह उस व्यक्ति को अपनी बड़ी बहिन (दरिद्रता) के हवाले करके चली जाती है ।

अर्थ से वल्लुवर का अभिप्राय अर्थनीति, राजनीति, या समाज नीति है (उसी अर्थ मे जिसमे कि कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है) । यह खंड इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा अंश है—इस कृति का आधे से अधिक भाग इस खण्ड मे लग गया है । राजा मन्त्री, गुप्तचर आदि के साथ साथ सभा संगति, व्यक्तियों की छांट, विचार, शक्ति, अवसर तथा व्यावहारिक ज्ञान आदि विषयों पर बड़ी संयत तथा सरल भाषा में विचार किया गया है । राजा को जिस नीति की आवश्यकता होती है उसकी समाज के प्रत्येक व्यक्ति को भी आवश्यकता है, क्योंकि अपने अपने क्षेत्र मे सभी शासन के केन्द्र हैं । वल्लुवर ने पूर्ण निश्चित स्वस्थ जीवन पर जोर दिया है, जीवन में समन्वय हो और हो आत्मविश्वास—कर्त्तव्या कर्त्तव्य का विवेक । कुछ उपदेश देखिये —

(१) निलत्तियल पा रीर तिरिन तट्टाहु मान्नर्क ।
किनत्तियलप ताकु मरिवु ॥

पानी का गुण बदलता रहता है और जैसी भूमि पर वह बह रहा है वैसा ही गुण ग्रहण कर लेता है, इसी प्रकार मन पर भी संगति का प्रभाव जम जाता है ।

---

* तुलना कीजिए —
दव का दाधा कुपली मेल्ही, जीभ का दाधा नु पांगुरइ ॥
(बीसलदेव रासो)

(२) मनत्ताना मान्तर्क कुणर्वि इनत्ताना ।
मिन्ना वनपडुश्चुल ॥

व्यक्ति के विवेक का सम्बन्ध उसकी बुद्धि से है, परन्तु समाज मे उसकी प्रतिष्ठा उसकी सगति पर निभर है।

(३) ञालम करदिनुम कैकुडुम कालम ।
करुदि इडत्ताल चैयिन ॥

यदि तुम ठीक समय पर ठीक काम करो तो सारे ससार को जीत सकते हो।

(४) कुण नाडिक कुट्रामु नाडि अवट्रुण ।
मिकै नाडि मिक्क कुडल ॥

मनुष्य की भलाइयों को देखो और फिर उसकी बुराइयों को देखो इनमें जो अधिक है समझ लो कि वैसा ही उसका स्वभाव है।

(५) मरुन्द एन-वेण्डावाम याक्कैकु अरुन्दियदु ।
अट्रदु पोट्रि उणिन ।

यदि पच जाने के अनन्तर ही फिर भोजन किया जावे तो शरीर को किसी भी औषधि की आवश्यकता नहीं है।

काम का भी वल्लुवर मे व्यापक अर्थ है, ससार मे जो कुछ काम्य है उसकी प्रेरणा को काम कहते हैं, निश्चय ही उसमें स्त्री का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। पतिव्रता स्त्री सौभाग्य का एक बड़ा प्रतीक है परन्तु स्त्री हमको ऊपर उठाने वाली हो नीचे गिरानेवाली नहीं। उच्च कुल और सतीत्व की इस खण्ड मे बडी प्रशसा है, मीठी वाणी तथा सद्व्यवहार की चर्चा के साथ साथ लज्जाशीलता, तथा पवित्र जीवन का महत्त्व यहाँ प्रतिपादित किया गया है। यहाँ सयोग और वियोग है नायिका (पतिव्रता स्त्री) तथा सखी है, ऋतु मौसम तथा काल हैं। स्वप्न में भी प्रिय के ध्यान मे मग्न रहनेवाली विरहिणी के पवित्र दर्शन तथा वियोग में भी क्षीण परन्तु सात्विक आभा से परिपूर्ण अगों की कान्ति इसी कामखण्ड में है। स्त्री पुरुष का प्रेम भी दिव्य है, यदि उसमे वासना न होकर आत्मा की घनिष्ठता हो तो ऐसा काम या प्रेम प्रेय होते हुए भी श्रेय है।

तिरुवल्लुवर का तिरुक्कुरल तमिल भाषा का ही अमूल्य रत्न नहीं भारतीय साहित्य का भी अद्वितीय ग्रन्थ है। इसमें जीवन के जिस समन्वय पर जोर दिया गया है उसका व्यावहारिक महत्व आज के संदिग्ध युग में और भी अधिक बढ़ गया है। सांसारिक जीवन को ही पवित्र बनाकर हम देवत्व प्राप्त कर सकते हैं, बुराइयों के भय से संसार से भागना जीवन का उचित मार्ग नहीं है। यही आर्य आदर्श है जिसका स्वच्छ चित्र इस 'आर्येतर भाषा' के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ में भी देखकर हम साभिमान कह सकते हैं कि समस्त भारत की विचारधारा भारतीयता का आदर्श—सर्वत्र एक ही है; समूचा भारत एक राष्ट्र है।'

बांगला रामायण

यद्यपि बंगला साहित्य का आरम्भ भी लगभग उस' समय होता है जिस समय हिन्दी साहित्य का, फिर भी चौदहवीं शताब्दी तक बंगभाषा में शिव, सूर्य, मनसादेवी, चंडी तथा यमराज के गीत ही लिखे जाते थे, वैष्णव धर्म या ब्राह्मण धर्म को लेकर पुनरुत्थान इसके अनन्तर ही हो सका। इसका अभिप्राय यह नहीं कि १२ वीं शती तक बंगाल में अब्राह्मण (तान्त्रिक) सम्प्रदाय ही चल रहे थे, क्योंकि ८ वीं शती में ही बंगाल के एक नरेश ने कन्नौज से पांच वेदपाठी कुलीन ब्राह्मणों को बुलवाकर ब्राह्मण धर्म की फिर से स्थापना कराई थी' और जनता फिर से धीरे धीरे ब्राह्मण धर्म में श्रद्धा रखने लग गई थी। परन्तु भाषा' में अपने श्रेष्ठ धर्म की पुस्तकें लिखना या पढ़ना ब्राह्मणों को स्वीकार्य न था, अस्तु, यह एक आश्चर्य की बात है कि "अष्टादश पुराणनि रामस्य चरितानि च। भाषायां मानव श्रुत्वा रौरव नरक व्रजेत्"[1]॥ मानने वाले ब्राह्मणों ने धर्मिक पुस्तकों का बंगभाषा में अनुवाद आदि में मुसलमान राजाओं के आदेश से ही किया, और फिर देखा देखी हिन्दू राजा भी इस कार्य को प्रोत्साहन देने लगे[2]। अनुमान से ज्ञात होता है कि सामान्य जनता में १४ वीं शताब्दी तक ब्राह्मण विचार पूर्णत फैल चुके थे इसलिए समझदार लोगों ने बंगभाषा को माध्यम बनाने का निश्चय कर लिया होगा। पाठक जानते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास को भी, ऐसी ही परिस्थिति में, रामचरित्र भाषा' में लिखने की आवश्यकता ज्ञात पडी थी।

कुछ विद्वान् तो बंगभाषा की प्राचीनतम रचनाओं में अभिनन्द के 'रामचरित' (८ वीं शताब्दी) तथा सन्ध्याकर नन्दी की रामायण' (१० वीं शताब्दी) का नाम लिया करते हैं,[3] परन्तु रामकथा की सिलसिलेवार रचनाएँ कृत्तिवास ओझा (जन्म लगभग १४ ० ई०) से

---

१ डा० सा० दीनेशचन्द्र सेन बंग साहित्य परिचय, भाग १, भूमिका पृ० ३८

२ डा० दीनेशचन्द्र सेन सरल बांगला साहित्य, पृ० १०८

३. श्री सुकुमार सेन बाँगला साहित्येर कथा, पृ० १

मिलती है कृत्तिवास की रामायण बंगाल का 'जातीय काव्य है' यह सबसे उत्तम भी है आदर्शों की दृष्टि से भी तथा मनोहरता की दृष्टि से भी। बंगाल में जो सम्मान कृत्तिवास की रामायण को मिलता है, वह काशीरामदास के महाभारत को छोड़कर और किसी तीसरे ग्रन्थ को प्राप्त न हो सका।

कृत्तिवास ने अपनी पुस्तक में अपना परिचय भी दिया है, जिसके अनुसार "नाना छन्द" तथा "नाना भाषा" सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करके जब वे 'पंडित कृत्तिवास" बन गये, तो इनके मन में राजपंडित बनने की इच्छा उत्पन्न हुई अत उस समय के प्रतापशाली नरेश 'राजा को "पञ्चश्लोक" समर्पित किये। राजसभा में कृत्तिवास का यश बड़े वेग से फैलने लगा, संसार का कोई भी महापंडित इनकी कविता में दोष न निकालता था। राजा इनसे बड़ा प्रसन्न था, उसने इनसे रामायण की रचना का अनुरोध किया।

हिन्दी में जो स्थान गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरित मानस' का है बंगभाषा में वही स्थान कृत्तिवास ओझा की 'रामायण' का समझना चाहिए परन्तु तुलसी तथा कृत्तिवास के व्यक्तित्वों में बड़ा अन्तर है इसलिए उनकी रचनाओं का पाठकों पर भिन्न प्रभाव पड़ता है। तुलसी की रामायण भक्तिरस का अथाह सागर है, उसमें जितनी बार डुबकी लगाई जाये उतनी ही बार नये नये रत्न हाथ लगते हैं, कृत्तिवास में ऐसा नहीं है। कृत्तिवास महत्वाकांक्षी थे, और उनकी एकमात्र कामना राजपंडित बनने की थी जो पूरी भी हो गई, रामायण की कथा उन्होंने किसी आन्तरिक प्रेरणा से या स्वान्त सुखाय नहीं प्रत्युत अपने आश्रयदाता के अनुरोध से ही भाषा में लिखी थी। गोस्वामी जी एक भक्त सन्यासी थे इसलिए पंडित होते हुए भी अपनी रचना में कहीं उन्होंने अपने को न तो 'कवि" कहा है न 'वचन-प्रवीन"— उनमें भक्त का स्वाभाविक गुण दीनता, कूट कूट कर भरा पाया जाता है। दूसरी ओर कृत्तिवास ने स्वयं कहा है कि मेरे शरीर में सरस्वती का निवास है जिसके कारण नाना छन्द तथा भाषा स्वत प्रस्फुटित होती है[1] अपने को "पंडित कृत्तिवास' तो उन्होंने न जाने कितनी बार कहा होगा राजसभा में उनका जो सम्मान हुआ था उसका स्मरण ही उनको पुलकित कर देता है —

---

१ सरस्वती अधिष्ठान आमार शरीरे। नाना छन्द नाना भाषा आपना आइसे मुखे॥

चन्दन भूषित आमि लोक आनन्दित।
सबे बल धन्य धन्य फुलिया पंडित॥
मुनिमध्ये बाखानि वाल्मीकि महामुनि।
पण्डितेर मध्ये कृत्तिवास गुणी॥

तुलसी और कृत्तिवास का मुख्य अन्तर बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड में दिखाई पड़ता है। तुलसी का भक्तिभाव सर्वत्र उनके साथ है, बालकाण्ड के शिवपार्वती, प्रतापभानु, स्वायम्भुवशतरूपा आदि उपाख्यान, उत्तरकाण्ड के रामराज्य, काकभुशुण्डि-गरुड़ आदि के दृश्य, तथा रावण द्वारा नारायणी सीता के स्थान पर छाया सीता का हरण, और शत्रु तथा मित्र दोनों के द्वारा भगवान राम की प्रशंसा आदि प्रसंग तुलसी की भक्ति के ही परिचायक हैं। तुलसी ने ऐसे दृश्यों को यथासंभव बचाया है या सुधारा है जिनसे पाठक के मन में राम के प्रति श्रद्धा में शिथिलता आती। दूसरी ओर कृत्तिवास की रामायण में "प्राचीन बंगाली समाजइ आपनाके व्यक्त करियाछे" (रवीन्द्रनाथ ठाकुर), यहाँ तक कि सीता के विवाह का दृश्य परम्परागत नहीं है, प्रत्युत बंगाली जमींदार की पुत्री के पाणिग्रहण का ही चित्र है। सीताहरण पर कृत्तिवास के राम सामान्य मानव के समान ही पत्नीवियोग में विलाप करने लगते हैं, और इस करुण परिस्थिति में सभी सम्बन्धित व्यक्ति और उनकी प्रतिक्रियाएँ उनके हृदय में एक एक करके आने लगती हैं, अन्ततोगत्वा वे प्रेमी पति ही हैं —

विलाप करेन राम लक्ष्मणेर आगे।
भूलिते ना पारि, सीता सदा मने जागे॥
कि करिब, कोथा जाब, अनुज लक्ष्मण।
कोथा गेले सीता, पाब कर निरूपण॥
मन बुझिबारे बुझि आमार जानकी।
लुकाइया आछेन लक्ष्मण देख देखि॥
× × × ×
गोदावरी तीरे आछे कमल कानन।
तथा कि कमलमुखी करेन भ्रमण?
× × × ×

---

१ 'फुलिया पंडित'—वासस्थान के आधार पर कृत्तिवास का नाम.

चिरदिन पिपासित करिया प्रयास।
चन्द्रकला भ्रमे राहु करिल कि ग्रास ?
राज्यच्युत आमाके देखिया चिन्तान्विता।
हरिलेन पृथिवी कि आपन दुहिता ?
× × × ×
आमार से राजलक्ष्मी निल कोन जने।
कैकयीर मनोभीष्ट सिद्ध एत दिने॥
× × × ×
तारा ना हरिते पारे तिमिर आमार।
एक सीता विहिने सकलइ अन्धकार॥
दशदिक् शून्य देखि सीतार अभावे।
सीता बिना अन्य किछु हृदये के भावे॥
देखरे लक्ष्मण भाइ, कर अन्वेषण।
सीतारे आनिया देह, बाँचाउ जीवन॥
आमि जानि पञ्चवटि तुमि पुण्यस्थान।
सेइ से एखाने करिलाम अवस्थान॥
ताहार उचित फल दिले हे आमारे।
शून्य देखि तपोवन सीता नाइ घरे॥
शुन पशु, मृग, पक्षी, शुन वृक्षलता।
के हरिल आमार से चन्द्रमुखी सीता॥

कृत्तिवासी रामायण में कुछ अन्य बातों पर भी ध्यान जाता है। जिस समय विश्वामित्र रामलक्ष्मण को यज्ञरक्षा के हेतु मागने आये तो दशरथ बड़ी चिन्ता में पड़े, वे न तो मना कर सके और न अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्रों को भेज सके, वात्सल्यमुग्ध राजा ने रामलक्ष्मण के स्थान पर भरत शत्रुघ्न को भेज दिया, विश्वामित्र प्रसन्नवदन वन को चले, परन्तु जब उनको इस प्रवंचना का पता लगा तो वे बड़े क्रुद्ध हुए, अन्त में राम के प्रयत्न से सब कुछ ठीक हो गया। कृत्तिवास में राम और केवट की भेंट उस समय होती है जब राम मिथिला जारहे थे वन को जाते समय नहीं; और परशुराम धनुर्भंग के बाद ही नहीं आजाते, प्रत्युत विवाह के अनन्तर दिखाई पड़ते हैं। वन जाते समय राम-कौशल्या का संवाद भी मनोरम है; राम ने गंभीर होकर माता से कहा कि कैकेयी ने जिस प्रकार पिता की सेवा की उसी प्रकार यदि तुमने की होती तो आज यह दिन न देखना पड़ता:—

स्वामी विना स्त्रीलोकेर आर नाइ गति ।
विमातार सेवाय पितार प्रीति अति ।।
तुमि यदि सेवा माता ! करिते पितारे ।
तवे केन एत पाप घटिवे तोमारे ?

कौशल्या ने राम को समझाया कि पिता की आज्ञा होने पर भी तुम वन जाने को बाध्य नहीं हो क्योंकि माता की आज्ञा वैसी नहीं है माता की आज्ञा पिता की आज्ञा के भी ऊपर है —

मायेर वचन लघि पितृवाक्य धर ।
पिता हइते माता तव अति महत्तर ।।
गर्भे धरि दु ख पाय स्तन दिया पोषे ।
हेन मातृ आज्ञा राम ! लघ तुमि किसे ?

पञ्चवटी मे शूर्पणखा का प्रसग भी मौलिक है और बहुत कुछ अश मे उसकी छाया भी मैथिलीशरण गुप्त के 'पञ्चवटी' काव्य मे खोजी जा सकती है। किष्किन्धाकाण्ड म मृत्युशय्या पर पडे हुए बालि के उद्गार भी अपूर्व है, अन्त समय उसको अपने छोटे भाई सुग्रीव पर ममता हो आई और वह कहने लगा कि दैव बडा निष्ठुर है उसने हम दोनों भाइयों को जीते जी एकसाथ सुखी तथा सम्पन्न न रहने दिया। मृत्युशय्या पर पडे रावण ने राम से कहा— तुम अनाथ के नाथ हो, पतितपावन हो, इस समय अपने चरण मेरे शिर के पास ले आओ। राम ने उत्तर में कहा—मैं राजनीति नहीं जानता तुम राजनीति के अपूर्व पडित हो, इस अन्तिम समय मे कुछ राज नीति सिखला दो।

'पडित कृत्तिवास" कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि कृत्तिवास को केशवदास के समकक्ष रखा जा सकता है, जिस अर्थ मे केशव 'आचार्य" थे उस अर्थ मे कृत्तिवास "पडित' न थे—प्रत्युत उनकी रचना मे उतना भी पाडित्य नहीं पाया जाता जितना कि तुलसी के रामचरित मानस में। कृत्तिवास की रचना इतनी सरल तथा अकृत्रिम है कि इनको बंगभाषा का वाल्मीकि कहा जा सकता है, बगदेश की "प्राकृतिक एव आध्यात्मिक ऐश्वर्यराशि" इनके इस अमर काव्य मे इतनी प्रतिबिम्बित हुई है कि काव्य रस से अछूते बगाली भी इसको पढकर भाव विभोर हो जाते है। जिस प्रकार वाल्मीकि के राम सीता ईश्वर या देवता न होकर आदर्श मानव मात्र हैं उसी प्रकार कृत्तिवास के भी। जब ये पात्र मानव हैं तो इनमे मानवीय दुर्बलताएँ भी होंगी, परन्तु वे

राजघराने के हैं और 'यथा राजा तथा प्रजा' का आदर्श सामने रखने वाली प्रजा उन्हीं का अनुकरण करेगी, इसीलिए (न कि इसलिए कि वे ईश्वर या देवता हैं) उनको दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करके दूसरों के सामने सम्हलकर आचरण करना चाहिए। कौशल्या ने वन जाने का उद्यत सीता को यही उपदेश दिया है

नृपतिर वधू तुमि राजार कुमारी।
तोमार आचरे आचरिबे अन्य नारी॥
(अयोध्याकाड)

केशव और तुलसी दोनों ही म अगदरावण सवाद का एक विशेष महत्त्व है। केशव ने राजसभा की मर्यादा का पूरा ध्यान रखा है, परन्तु तुलसी की भक्ति भावना रावण की ही सभा मे रावण को गालियाँ सुनाने का साहस अगद को दे सकती है। कृत्तिवास ने रावण को गालिया तो नहीं सुनवाई पर तु रावण के सामने ही इन्द्रजीत को बुरी से बुरी बातें सुनने को बाध्य किया है, इन्द्रजीत अगद का परिहास शिष्ट कदापि नहीं कहा जा सकता। रावण ने ऐसी माया का प्रसार किया कि इन्द्रजीत के अतिरिक्त सभी दरबारी रावण ही मालूम पडते थे, अगद हैरान होगया, फिर उसको मजाक सूझा और वह इन्द्रजीत से बोला —

अगद बले सत्य क रे कउरे इन्द्रजिता।
एइ जत बसे आछे सबाइ कि तोर पिता॥
धन्य रानी मन्दोदरी, धन्य तोर माके।
एक युवती एत पतिभाव भाव केमने राखे॥
कौन बाप तोर चेड़ीर अन्न खाइल पाताले।
कौन बाप बाधा छिल अर्जुनेर अश्वशाले॥
कौन बाप तोर धनुक भाँगिते गोछल मिथिला।
कौन बाप तोर कैलास तुलिते गियाछिल॥
एके एके कहिलाम तोर मकल बापर कथा।
इहा सबाके जान नाइ तोर योगी बापेरी कोथा॥

कृत्तिवास केवल पडित हों, ऐसी बात नहीं, वे भक्त भी थे और कट्टर वैष्णव भक्त। उनकी रचना मे 'रामनाम' तथा 'गगा' के साथ साथ "वैष्णवेर सगति" के भी प्रति सर्वत्र श्रद्धा दिखलाई पड़ती

है। अन्य भक्तों के समान कृत्तिवास की भी यह हार्दिक कामना है कि जब उनका अन्त समय हो तो वे रामनाम जपते हुए गंगाजल में अपना शरीर छोड़ें[1] मोक्ष न माँगकर वे भी हरिचरणों में निरंतर भक्ति की याचना करते हैं। वैष्णवों में रामनाम की महिमा राम से भी बढ़कर मानी जाती है क्योंकि कलियुग में संसार सिन्धु से तरने का यही एकमात्र साधन है[2], इसीलिए कृत्तिवास ने भी राम की अपेक्षा रामनाम पर अधिक जोर दिया है, मनुष्य कितना ही पापी हो यहाँ तक कि वह गोहत्या आदि घोर पाप से दूषित हो तो भी केवल एक बार रामनाम कहने मात्र से उसके पापों का क्षय हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि कपास का ढेर अग्नि स्पर्शमात्र से ही भस्म होने लगता है —

मनुष्य गोहत्या आदि जत पाप करे।
एकबार रामनामे सकलपापे तरे।
तूलाराशि जेमन अनलो भस्म हय।
एकबार रामनामे सर्वपाप क्षय॥
(आदिकाण्ड)

यद्यपि भक्त कृत्तिवास ने रामनाम के बिना सभी धर्म-कर्म को निष्प्राण ठहराया है, फिर भी कर्म फल को वे वैदिक विचार-प्रणाली के अनुसार अवश्यमेव भोक्तव्य मानते हैं, यहाँ तक कि उनको "दैव" में भी विश्वास करना पड़ा है[3]। यह सभी लोग जानते हैं कि स्वयं भगवान् को भी कर्मफल भोगने के लिए संसार में आना पड़ता है, हमारे लेखक ने बालिवध के उपरान्त दुखिनी तारा के मुख से भगवान को शाप दिलवाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि कर्मफल सभी को भोगना पड़ता है, स्वयं भगवान् भी इससे नहीं बच सकते:—

आमि शाप दिलाम न हइबे खंडन।
सीतार कारणे तुमि हबे ज्वालातन।
इहा मने ना करिव आमि नारायण।
कर्म्मफल भोग करे सर्व्व जन॥
(किष्किन्धाकाँड)

---

१ एइ निवेदन मोर शुन नारायण। गंगाजले रामबल त्यजि ए जीवन॥(सुन्दरकाण्ड)

२ रामनाम लइते ना कर भाइ हेला। भवसिन्धु तरिबारे राम नाम भेला॥

३ दैवेर निर्बंध कभु ना जाय खंडन॥ (किष्किन्धाकांड)
दुःख ना भुंजिले कर्मेर हय खंडन।
सुख दुःख देय भाई ललाटे लिखन॥ (वही)

१ कृत्तिवास मे वाल्मीकि का इतना अधिक अनुकरण है कि इसको उसकी छाया मे लिखा हुआ माना जा सकता है। तुलसी तथा कृत्तिवास की कथाओं मे भी कुछ स्थलों पर भेद है, जिसका कारण यही है कि तुलसी के सामने "नाना पुराण निगमागम" थे, परन्तु "फूलिया पंडित" का आदर्श वाल्मीकि का ग्रन्थ मात्र था। बालकांड मे तुलसी ने जो अनेक श्रोताओं तथा वक्ताओं की योजना की है उसके लिए कृत्तिवास के यहाँ कोई स्थान न था, ज्ञान तथा भक्ति का वह संघर्ष, जो तुलसी के युग की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी, कृत्तिवास में थोड़ा-सा भी स्थान न पा सकी। तुलसी एक आदर्श प्रेरित समाजसुधारक भक्त थे जब उन्होंने उस समय की स्त्रियों को सर्वत्र उस महान् कार्य मे बाधक पाया तो वे अपना क्षोभ न रोक सके, कृत्तिवास को इसकी आवश्यकता न थी, वे तो संसार मे एक मनुष्य थे समाज-सुधार का उन्होंने कोई ठेका तो लिया न था, इसलिये यद्यपि उनके ऋषि विभाण्डक नारीगण को "कामचारी राक्षसी" कह देते हैं, फिर भी अन्यत्र उन्होंने सर्वदा ही नारी प्रशंसा की है — संसार सुख के लिए उसका साथ आवश्यक ठहराया है[१]। अरण्यकांड मे जहाँ अनसूया ने सीता को पतिव्रत धर्म का उपदेश दिया है वहाँ राम को भी स्पष्ट बतला दिया है कि ऐसी पत्नी, जो अमूल्य सम्पति को छोड़ कर पति के साथ वन को जाय, बड़े तप से किसी किसी को ही मिलती है :—

ए सब सम्पद छाड़ि पतिसंगे जाय।
हेन स्त्री पाइल राम बहु तपस्याय॥

कृत्तिवास के कुछ स्थल बड़े ही स्वाभाविक तथा मनोहर बन पड़े हैं, जिनमे कवि की प्रवृत्ति का थोड़ासा आभास प्रयत्नशील पाठक को मिल सकता है। धनुर्भङ्ग के उपरान्त विश्वामित्र ने जनक से कह दिया कि राम की इच्छा विवाह करने की नहीं है, वे कहते हैं कि हमको घर छोड़े बहुत दिन हो गये हैं हमारे पिताजी हमारे लिए व्याकुल होंगे... राम उनके घर विवाह करेंगे जो चारों भाइयों को चार कन्याएँ देगा। आगे चल कर जब विवाह होगया तो सखियाँ राम से परिहास करने

---

१. कहाँ गृहीर सुख, कहाँ संसार॥
२. कहाँ हइबे हय, पुत्र परिवार॥
(किष्किन्धाकांड)

लगीं और बोली कि तुम जानकी के पति नहीं जँचते, जानकी बड़ी सुन्दर है और तुम उतने ही अधिक काले हो; इस पर राम हँस कर के बोले— सुन्दरी के सहवास (साथ रहने) से शायद हम भी सुन्दर बन जावें:—

परिहास करे सवे रामेर सहित।
तुमि जे जानकीपति ए नहे उचित॥
हे राम! तोमाके ए कथा कहि भाल।
सीता बड़ सुन्दरी, तुमि जे बड़ काल॥
हासिया बलेन राम सवार गोचर।
सुन्दरीर सहवासे हइब सुन्दर॥
(आदिकांड)

प्रस्तुत ग्रन्थ के आदि कांड में दो प्रकरण बड़े रमणीय हैं; एक विभाण्ड-ऋष्यशृङ्ग-प्रसंग जिसमें एक ओर तो संसार से उदासीन सन्यासियों पर चलता हुआ व्यंग्य है और दूसरी ओर स्त्री जाति की चतुराई का आभास मिलता है और जिसको तुलसी के नारद-मोह-प्रसंग के समानान्तर रखा जा सकता है; दूसरा; केवट तथा राम का वार्तालाप। अयोध्याकांड में सीता तथा ग्रामवधुओं का प्रसंग, तथा अरण्यकांड में अहेरी राम का शब्द सुनकर सीता के लक्ष्मण के प्रति कठोर वचन वाल्मीकि के आधार पर हैं। किष्किन्धाकांड में वालिवध के उपरान्त तारा का राम को शाप देना भी देखने योग्य है। इन प्रसंगों में मौलिकता तो कम ही मिलेगी परन्तु कवि का व्यक्तित्व भलीभाँति जाना जा सकता है—ईश्वर, धर्म, राम, नारी-जाति तथा लोकरीति के प्रति कवि की भावनाएँ ऐसे प्रसंगों में स्पष्ट झलकती हैं।

तुलसी ने अपना 'मानस' कृत्तिवास से कम से कम डेढ़ सौ वर्ष पीछे लिखा था. उस समय हिन्दी में साहित्य का भी विकास हो चुका था और तुलसी के सामने संस्कृत तथा 'भाषा' (प्राकृत भाषाएँ) के अनेक राम कथा सम्बन्धी ग्रन्थ भी थे; कृत्तिवास के समय तक बँगला साहित्य प्रारम्भिक अवस्था ही में था, तथा कृत्तिवास ने अपना आधार वाल्मीकि को बनाया है। इन सब कारणों से तुलसी की रचना कृत्तिवास की रचना से बहुत अधिक प्रौढ़ है; बंगभाषा में राममोहन बन्धोपाध्याय में ही तुलसी जैसा उत्कर्ष दिखलाई पड़ता है—कई स्थलों पर दोनों

की रचनाओं में (जैसे वर्षा वर्णन) बड़ी समानता मिलती है। अस्तु, कृत्तिवास की रचना उस स्तर की जान पड़ती है जिस स्तर के हमारे रासोकाव्य – वर्णनप्रधान तथा कथालकृत – यद्यपि रासो काव्यों में भी इस रामायण से अधिक साहित्यिक सौंदर्य मिलता है। कृत्तिवास ओझा के काव्य को बगभाषा का 'आदिकाव्य' ठीक ही कहा जाता है, क्योंकि वैष्णव धर्म का यह आदि बंगीय प्रबन्ध काव्य है, इसका उद्देश्य वाल्मीकि की कथा को भाषा में सुलभ बना देना था, जिसमें इसको पूरी सफलता मिली है। कृत्तिवास का पाठक के लिए एक ही सन्देश है कि ससार मे राम नाम मुख्य है, अन्य धर्म कर्म इससे पीछे ही आते हैं क्योंकि रामनाम के बिना सभी धर्म-कर्म मिथ्या हैं —

राम नाम जप भाइ अन्य कर्म पिछे।
सर्व्व धर्म्म कर्म्म राम–नाम बिन मिछे ॥

---

1 डा० तमोनाशचन्द्र दासगुप्त के अनुसार कृत्तिवासी रामायण का प्रधान आदर्श वाल्मीकि की रामायण नहीं है प्रत्युत पद्मपुराण है। कृत्तिवास ने किंवदन्ती के ऊपर अपनी कृति को बहुत अंश में निर्भर बनाया है।

(प्राचीन बाँगाला साहित्येर कथा, १०४०)।

कुमार व्यास या कन्नड़व्यास

उत्तर भारत में उनका नाम कन्नड़ व्यास है और कन्नडभाषा भाषी उनको कुमार व्यास कहते हैं, परन्तु उनके माता पिता उनको नारणप्पा कहकर पुकारते थे। नारणप्पा का जन्म कब हुआ, ये अभी तक अनिर्णीत है, परन्तु विक्रम की बारहवीं शती से पन्द्रहवी शती तक इनके काल का अनुमान किया जाता है। नारणप्पा या कुमार व्यास कन्नड के आदिकवि नहीं हैं, क्योंकि कन्नड भाषा की रचनाएँ पाँचवीं शताब्दी से तो उपलब्ध होने ही लगती है, नवम शताब्दी में "कविराजमार्ग" जैसी उत्कृष्ट रचना हो चुकी थी और कन्नड़ भाषा का सुस्पष्ट एवं सुसस्कृत साहित्यिक रूप निश्चित हो चुका था। वस्तुतः तमिल, तेलुगु और मलयालम के समान कन्नड़ भी द्रविड-परिवार की एक प्रमुख एवं प्रतिष्ठित भाषा है। इसकी लिपि तेलुगु लिपि से मिलती जुलती है और इसका सांस्कृतिक सपर्क भी तेलुगु से ही अधिक रहा है भाषा की दृष्टि से इसका झुकाव तमिल की ओर है। कन्नड़ के लालित्य और माधुर्य से प्रभावित होकर ही भाषा रसिकों मे 'कन्नड-कस्तूरी' कथन प्रचलित हुआ होगा।

नवम शताब्दी से कन्नड का पुनरुत्थान-काल प्रारम्भ होता है, जिसमें जैन कवियों का भी विशेष योग रहा है। ब्राह्मण सस्कृति की भक्ति को अपनाकर वे उनके अवतारों को ईश्वर न मान सकते थे, इसलिए ब्राह्मण पुराणशास्त्रों को सामान्य कथा स्रोत मान कर जैनों ने कन्नड़ मे वीररस के सुन्दर काव्य लिखे। महाभारत तथा रामायण के तीन प्रसिद्ध आदि कवि पंप, पोन्न और रन्न, जो 'रत्नत्रयी' नाम से प्रसिद्ध हैं, साम्प्रदायिक दृष्टि से जैन थे। पम्प कन्नड़ के आदि महाकवि हैं, उनका 'विक्रमार्जुन-विजय' या 'पम्प भारत' उच्चकोटि का महाकाव्य है, रन्न 'साहसभीमविजय' या 'गदायुद्ध' के रचयिता हैं। इन पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव कुमार व्यास के 'भारत' पर स्पष्ट लक्षित होता है। अन्तर केवल यह है कि विजय काव्य के ये जैनकवि वीररस मे सिद्धहस्त थे और ब्राह्मण कुमार व्यास उच्चकोटि के वैष्णव भक्तकवि थे।

कुमार व्यास का समय जितना संदिग्ध है उतना घर बार नहीं। उनके पूर्वज विजयनगर साम्राज्य के प्रतिष्ठित राजकर्मचारी थे और शासक की ओर से उनको कोलीवाड नामक ग्राम प्राप्त हुआ था। कहा जाता है, कि स्वप्न में भगवान ने नाराणप्पा को दर्शन दिए और महाभारत लिखने का आदेश दिया। भगवान् ने आज्ञा दी, कि नाराणप्पा अपना ग्राम त्याग कर गदुग (जिला बल्लारी) में चले जायँ। वहाँ उनको अश्वत्थामा के दर्शन होंगे और उनसे सारी 'भारत' की कथा प्राप्त हो जायगी। नाराणप्पा गदुग गाँव में पहुँचे और एक ब्रह्मभोज में सम्मिलित हुए। उन्होंने देखा, कि एक ब्राह्मण अत्यन्त उदास है, उसकी आँखों में आँसू भरे हुए हैं। भोज के उपरान्त नाराणप्पा उस ब्राह्मण के पास पहुँचे और भगवान् का आदेश सुनाकर उसके चरणों में गिर पड़े। तब अश्वत्थामा ने कहा, कि तुम वीर नाराणप्पा के मन्दिर में चले जाओ, प्रातःकाल स्नान करके तुम मूर्ति के सम्मुख खड़े हो जाया करना, जब तक तुम्हारा वस्त्र गीला रहेगा तब तक तुम्हारे मुख से भारती का आविर्भाव होता रहेगा। ये व्रत तुम नित्य करते रहना, परन्तु यदि इसका भेद किसी को बताओगे तो तत्काल तुम्हारी मृत्यु हो जायगी। किम्वदन्ती है, कि कुमारव्यास आदि दस पर्व लिखकर इतने उल्लसित हुए, कि उक्त रहस्य को उन्होंने प्रकट कर दिया और तत्काल ही उनकी मृत्यु हो गई। कन्नड भारत या गदुगिन भारत आज भी प्रथम दस पर्व मात्र ही है। उपर्युक्त जनश्रुति से कम से कम इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ता है, कि कन्नड के इस अमूल्य रत्न की मुख्य प्रेरणा ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान है, जिसके प्रतीक अश्वत्थामा हैं और इस रचना में वीर एवं भक्ति रसों का अपूर्व समन्वय है। कन्नडभारत का समर्पण कवि ने मंगलाचरण में वीर नाराणप्पा को किया है जो इन्हीं रसों के समुचित अवलम्बन हैं। आज भी वह मन्दिर गदुग में वर्तमान है।

नाराणप्पा या कुमारव्यास की कन्नडभारत या गदुगिन भारत ही एकमात्र कृति है, परन्तु इसी के आधार पर वे अपूर्व प्रतिभासम्पन्न सिद्ध साधक प्रकाण्ड दार्शनिक एवं क्रान्तद्रष्टा कवि स्वीकार किये जाते हैं। तुलसी के समान उन्होंने अपने को सब शास्त्र और ज्ञान से विहीन कहकर शिष्टाचार का पालनमात्र किया है। वस्तुतः वे तुलसी के समान ही अपूर्व प्रतिभा सम्पन्न थे। दर्शन में वे समन्वयवादी हैं। ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का प्रतिपादन उन्होंने बड़ी निष्ठा से किया है और वैष्णव भक्त होते हुए भी उनके मन में शिव के प्रति बड़ी

भक्ति है। हिन्दी में यदि प्रतिभा की दृष्टि से कुमारव्यास के समान कोई कवि रखा जा सकता है, तो केवल तुलसी ही। यद्यपि तुलसी विष्णु के रामावतार में श्रद्धावान थे और कुमारव्यास विष्णु के कृष्ण रूप के उपासक थे।

परन्तु एक दूसरी दृष्टि से कुमार व्यास की तुलना तुलसी से न करके महात्मा सूर से करनी चाहिये। इनकी रचना का विषय कृष्ण ही रहा है और यद्यपि इनका मुख्य आधार महाभारत था फिर भी इनके 'भारत' में कृष्ण को स्वतंत्र एवम् एकमात्र नायकत्व प्राप्त हो गया है। ये सच्चे कृष्ण भक्त थे और महाभारत की रचना इनकी कृष्ण भक्ति का ही परिणाम है —

तिलिदु हेलुवे कृष्ण कथेयनु
कृष्ण मेचलिके।

(कृष्ण को प्रसन्न करने के उद्देश्य से मैं कृष्ण की कथा कहता हू)।

इस दृष्टि से एक ओर 'किरातार्जुनीय' के रचयिता और दूसरी ओर श्री मद्भागवतकार दोनों से ही कुमारव्यास का क्षेत्र व्यापक तथा उदात्त है। ध्यान रखना पडेगा कि कृष्ण भक्तों की लीलामात्र पर्यवसायिनी सकुचित दृष्टि न रखकर कुमार व्यास ने कृष्ण का महान् से महान् तथा व्यापक से व्यापक रूप ग्रहण करके कृष्ण की वस्तुत सोलह कलाओं का प्रकाश दिया है।

कन्नड भारत में केवल प्रथम दशपर्व हैं और महाभारत की कथा के स्थान पर कृष्ण कथा कवि का ध्येय है, फलत जहाँ कृष्ण का चरित्र आ जाता है वहाँ तुलसी के समान कवि की कल्पना कोई अवसान स्वीकार नहीं करती। वह स्वयं तल्लीन हो जाता है। और पाठकों को भी विस्मृत कर देता है। महाप्रभु चैतन्य भी कृष्ण के प्रेम में रसविभोर हो जाया करते थे, परन्तु उनके सामने कृष्ण का केवल एक रूप है। कुमारव्यास अपने इष्ट देव के स्वामित्व को सर्वत्र देखते हैं और उनके मन में श्रद्धा के उद्‌गार स्वय प्रस्फुटित होने लगते हैं।

नारणप्पा ने व्यास का अन्धानुकरण नहीं किया, प्रत्युत कथा विस्तार में नवीन प्रसगों की उद्‌भावना भी की है। कहीं कहीं कवि वाचाल होगया है। कुछ प्रसग तो अत्यधिक मर्मस्पर्शी हैं। चीरहरण के अवसर पर व्यास की द्रौपदी एकदम कृष्ण का स्मरण करती है, (आकृष्यमाणे वसने द्रौपदी कृष्णमस्मरत) परन्तु कन्नड भारत की द्रौपदी अधिक

स्वाभाविक है। उसने सर्व प्रथम कुरुवृद्ध भीष्म की ओर याचना भरी दृष्टि से देखा। फिर उधर से निराश होकर उसके अश्रुपूर्ण नेत्र पाँच पराक्रमी पतियों पर जा जमे। अन्त में उसने कृष्ण का स्मरण किया। धर्म का तत्काल रक्षक समाजवृद्ध और कुलवृद्ध व्यक्ति ही है और फिर नारी की लाज उस व्यक्ति की लाज बन जाती है, जिसने अग्नि को साक्षी करके उसकी रक्षा का भार अपने सिर पर लिया है। अन्त में भगवान तो अबलों के सहायक होते ही हैं। दूसरा स्थल देखिये—महाभारत में दुर्योधन ने कृष्ण का अपमान करना चाहा, परन्तु उनके विराट व्यक्तित्व के कारण उसे सफलता न मिली। कन्नडभारत का दुर्योधन अपने दम्भ में डूबा हुआ कृष्ण के स्वागत के लिये सिंहासन से खड़ा नहीं होता। तब कृष्ण भगवान् अपने अङ्गुष्ठ को दबा देते हैं और अकस्मात् दुर्योधन लुढ़कता हुआ उनके चरणों में आ गिरता है। कुमार व्यास की ये कल्पनाएँ उनके भक्त हृदय का निर्मल उच्छ्वास है।

उत्तर भारत के जैन कवि अपनी कल्पना के लिये साहित्य में प्रसिद्ध हैं। रामकथा में सीता को रावण की पुत्री मानकर इन्होंने भाग्य के मर्म भेदी रहस्यों का बड़ा करुण अङ्कन किया है। कन्नड़ के जैन कवि पम्प ने अपने 'पम्प भारत' में कर्ण और कुन्ती के मिलन का वैसा ही हृदय द्रावक चित्र खींचा है। लज्जा के कारण कुमारी कुन्ती अपने हृदय के टुकड़े कर्ण को जिस गंगा में बहा आई थी वही सहृदया गंगा इतने दिनों बाद राजमाता कुन्ती को उसकी प्रथम संतान कर्ण को लौटा देती है। सारा चित्र करुणा और भाग्य की कहानी है। कुमार व्यास ने पम्प की सारी कल्पना अपनी रचना में स्वीकार करली है।

कन्नड़ भारत में कथावस्तु का आधार तो मुख्यतया महाभारत ही है, परन्तु चरित्र चित्रण कुमार व्यास की अपनी साधना है। सर्वोत्तम चित्र श्री कृष्ण का है, जो कि साक्षात् ईश्वर है। अन्य पात्रों में से भीम, द्रौपदी और उत्तर कुमार स्मरणीय हैं। भीम और द्रौपदी 'किरातार्जुनीय' और 'वेणीसंहार' में भी वीररस के साक्षात् अवतार है। यही रूप कुमारव्यास को पसंद आया है। उनकी द्रौपदी अर्जुन की अर्धाङ्गिनी होने की अपेक्षा भीम की नायिका बनने के अधिक उपयुक्त है। उत्तर कुमार को आजकल के राजाओं का ही एक चित्र समझिये। उतना ही वाग्वीर, उतना ही चंचल, उतना ही कायर और

रत्रैण, कन्नड प्रान्त में उत्तरकुमार आज भी इन्हीं गुणों की मूर्ति का नाम है। दुर्योधन, दु शासन, शकुनि और कर्ण ये चारों महाभारत के दुष्टचतुष्टय हैं। महाभारतोत्तर संस्कृत साहित्य में भी दुर्योधन के चरित्र में अनेक गुणों और दुर्गुणों की खोज करके उसके व्यक्तित्व में न्यूनाधिक परिवर्तन किया गया है। कुमार व्यास का दुर्योधन तेजस् और दुष्टता में अपने व्यक्तित्व से अग्रसर हो गया है। सबसे अधिक हृदयस्पर्शी चित्र तो कर्ण का है। कवि को उससे सहानुभूति अधिक रही है। आज भी कुन्तीकर्णसंवाद को सुनकर श्रोताओं के नेत्र अश्रुजल से छलछला उठते हैं। कन्नड भारत का ये सबसे कोमल प्रसंग है।

कुमार व्यास की कल्पना अद्वितीय है। रूपक साम्राज्य के वे चक्रवर्ती कहे जाते हैं। भक्ति, वीर, रौद्र और अद्भुत रस पर उनका असाधारण अधिकार है, 'भामिनी षट्पदी' के लिखने में वे जितने सफल हुये और इस छन्द को इस कवि के कारण जितनी लोकप्रियता प्राप्त हुई, उसको सोचकर तुलसी के रामचरित मानस के चौपाई छन्द की याद आ जाती है। नाद सौन्दर्य जितना कुमारव्यास में है उतना कन्नड के दूसरे कवियों में नहीं है। माधुर्य, प्रसाद और ओज तीनों गुणों का समन्वय है। कुमारव्यास की भाषा में तद्भव शब्द ही अधिक हैं। तत्सम कम और देशज तथा विदेशी तो बहुत ही कम। देशज का आगम फारसी, अरबी और मराठी से है, जिसका कारण गदुग ग्राम की भौगोलिक स्थिति को मानना पड़ेगा।

कुमार व्यास की कविता में दोषों का अभाव है, यह नहीं कहा जा सकता। कहीं कहीं कवि इतना वाचाल हो गया है कि पढ़ते समय पाठक अपनी सहनशीलता पर अविश्वास करने लगता है। व्याकरण भी हवा में उड़ गया है, परन्तु कुमारव्यास की जनप्रियता का मुख्य कारण उसकी सरल शैली है। महाभारत के कृष्ण ने द्रौपदी को एक अक्षय पात्र प्रदान किया था, जिससे वे अतिथियों को हर समय भोजन दे सकती थी। उसी प्रकार कुमारण्णा को भगवान कृष्ण ने असाधारण प्रतिभा प्रदान की थी, जिसका प्रयोग इस कवि ने भगवान् के गुणगान में ही किया और परिणामतः कन्नडभारत जैसे अमरकाव्य की रचना हुई जो काव्यगुणों की दृष्टि से ही नहीं, प्रत्युत विचार भाव और आदर्श की दृष्टि से भी अपूर्व है।

कुमार व्यास की प्रतिभा से गद्‌गद् होकर ही आधुनिक काल के प्रसिद्ध कवि के० वी० पुट्टप्पा ने ये उद्‌गार प्रकट किए हैं —

कुमारव्यासनु हाडिदनेन्दरे,
कलियुगा द्वापर वागुवुदु।
भारत कण्णलि कुणिवुदु, मैय्यलि
मिञ्चिन होळे तुलुकाडुवुदु।
कलिकेन्यागुवनु
कवि हुच्चागुवनु॥

(कुमारव्यास की कविता से कलियुग द्वापर में परिणत हो जाता है, महाभारत नेत्रों के समक्ष नाचने लगता है, शरीर में बिजली दौड़ जाती है, सहृदय गद्‌गद् हो जाता है और कवि आनन्दविह्वल हो जाता है।)※

※ इस लेख की सामग्री मुझको अपने शिष्य तथा स्नेही श्री० वी० आर० नारायण से प्राप्त हुई है।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०	६	प्रस्तुत	प्रसुप्त
२४	६	उर	डर
३१	१३	यदि	याद
४२	२५	सद्रूर	सुदूर
	२७	ब्रह्मदेश	ब्रह्मदेश
५१	१६	भी है	भी
५७	१३	जगेदकगृहित	जगदेकहित
५८	१	चारण में	चारण
	३२	भी	श्री
६६	६	पानत	पानेन
	७	सुपृत	सुकृत
	६	केली	केलि
	१५	कभी	कमी
६६	२८	सँग	रँग
७३	१६	उद्धव	उद्धव
७६	१५	वाद	वादी
	१६	वादी	वाद
	२०	सानिध्य	सान्निध्य
८०	२०	हुआ	होता हुआ
८८	२१	जोवकी	जीवको
१०६	१७	रीक्ति	रीति
११७	२३	शलैदा	शव्दा
१२७	६	दुःखात्मका	दुःखात्मक
१३४	२१	व्याख्क आवश्य	व्याख्या आवश्यक
१३७	१४	हस	हँस
१३६	१०	जानता	जानना
१४५	५	हिसाब के	हिसाब से
	१२	हढीली	हठीली
१५०	२८	लिखा	लिखा
१५२	३१	सर्लसुलभ	सर्वसुलभ
१६८	६	युधिष्ठर	भीष्म और युधिष्ठिर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७५	१४	प्रतिद्वन्दी	प्रतिद्वन्द्वी
	२१	सिद्ध	सिद्धि
१८७	१८ वीं पंक्ति से पहिले १९वीं पढ़िये		
	२० फुटनोट के नम्बर १, २, ३ के स्थान पर क्रमशः २, ३, १ पढ़िये		
१९०	२	अपहति	अपह्नुति
	१६	प्रतिमा	प्रतिमा
२०३	३२	अहते स्फुरे	इहते स्फुरे
२१२	२३	महाकवि	महाकाव्य
२१६	३२	अपर्व	अपूर्व